वैदिक कर्मकाण्डों का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय
की
डी0 फिल्0 उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध–प्रबन्ध
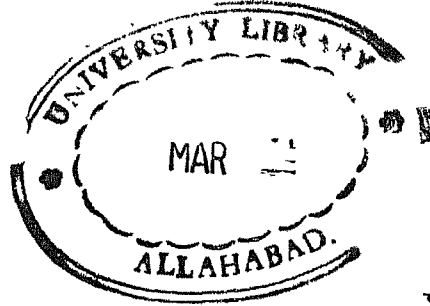
निर्देशिका
डा0 सुचित्रा मित्रा
वरिष्ठ प्राध्यापिका
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद 211002

शोधकर्त्ता
शशि भूषण द्विवेदी
शोध छात्र
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद 211002

इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद—211002

प्रमाण—पत्र

मै प्रमाणित करती हूँ कि श्री शशि भूषण द्विवेदी, पुत्र श्री शिव प्रसाद द्विवेदी द्वारा मेरे निर्देशन में डी0 फिल्0 उपाधि हेतु प्रस्तुत ''वैदिक कर्मकाण्डों का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन'' विषयक शोध—प्रबन्ध उनकी मौलिक शोधकृति है।

डा0 सुचित्रा मित्रा

Suchitra Mitra

वरिष्ठ प्राध्यापिका
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्राक्कथन

वैदिक कर्मकाण्डों के अन्तर्गत हविर्याग, सोमयाग, पञ्चमहायाग, संस्कार कृत्य एवं अन्य विशिष्ट यागादिक अनुष्ठानों के माध्यम से अनुकूल मानसिक शक्तियों का विकास किया जाता है, जिससे स्वस्थ एवं संतुलित मानसिक स्वास्थ्य का निर्माण होता है। स्वस्थ एवं संतुलित मानसिक स्थिति में ही मनुष्य आत्मा, परमात्मा, जीवन, जगत् एवं मोक्ष आदि गुह्य विषयों का चिंतन कर सकता है। वैदिक कर्मकाण्डों का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि आधुनिक मनोविज्ञान के मूलाधार विषय वैदिक कर्मकाण्डों में प्रायोगिक रूप में विद्यमान हैं। अथर्ववेद में मानसिक क्षेत्र से सम्बद्ध विषयों को याज्ञिक कृत्य में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है–

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।

मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्।।

अथर्ववेद–6/41/1

वस्तुतः प्रेरणा, संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, धारणा, चिंतन, कल्पना, स्मरण इत्यादि मानसिक शक्तियों के आधार पर देवताओं एवं वैदिक ऋषियों के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध (Interpersonal Relationship) स्थापित होता है। वस्तुतः उपर्युक्त सभी मानसिक शक्तियों के सम्प्राप्ति का मूलाधार मंत्र–शक्ति है। प्रेरणा, संवेदना एवं प्रत्यक्षीकरण आदि मानसिक शक्तियों के दृढ़ता से ही यजमान एवं पुरोहित याज्ञिक कृत्य को संचालित करते हैं। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में वैदिक कर्मकाण्डों के अन्तर्गत श्रौत एवं गृह्यकर्मकाण्ड से सम्बद्ध यज्ञों का परिचय एवं उनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का एक सार्थक प्रयास किया गया है। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध की पूर्णता में दैवीय प्रेरणा की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के सूक्ष्म चिंतन एवं समुचित मार्गदर्शन में शोध निर्देशिका डा0 सुचित्रा मित्रा का अविस्मरणीय योगदान रहा है। शोध–प्रबन्ध के संरचना के मध्य समुत्पन्न होने वाले जटिल एवं कष्टप्रद विषयों को सुस्पष्ट करने में परमादरणीय प्रो0 गोविन्द चंद पांडे (अध्यक्ष–राष्ट्रीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला) का विशेष मार्गदर्शन रहा है। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के अन्तर्गत वैदिक कर्मकाण्डों में मनोविज्ञान विषयक तथ्य के सुव्यवस्थित प्रस्तुतीकरण के लिये श्रद्धेय प्रो0 वाचस्पति उपाध्याय (कुलपति–लालबहादुर शास्त्री, संस्कृत विद्यापीठ) का चिरस्मरणीय योगदान रहा है। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में वैदिक अनुष्ठानों से समुत्पन्न होने वाली अनुभूतियों के सम्यक् विश्लेषण में परमादरणीय श्री हरिशंकर द्विवेदी 'अज्ञान' का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में उत्साह–वृद्धि के प्रमुख प्रेरणा–श्रोत श्रद्धेय डा0 हरिदत्त शर्मा, ई0 देवी प्रसाद द्विवेदी, डा0 सरस्वती प्रसाद द्विवेदी, डा0 शैलजा पांडे, डा0 बीना मिश्र, डा0 पूर्णिमा द्विवेदी एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालय, संस्कृत विभाग के अन्य मूर्धन्य विद्वानों के प्रति मै कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। इस विपुल शोध–कार्य को सीमित अवधि में पूर्ण करने के लिये अपने परमपूज्य माता–पिता एवं पितामह (स्व0 पं0 गङ्गा प्रसाद द्विवेदी) के प्रति श्रद्धापूर्वक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में कतिपय मूलग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण कुछ विषय–सन्दर्भ अन्य सामान्य एवं विषय–सम्बद्ध व्याख्या ग्रन्थों से उद्धृत हैं, अतएव उनमें सम्भावित त्रुटि के लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

स्थान–प्रयाग

दिनांक –

विनीत

Shashi Bhushan Dwivedi

शशि भूषण द्विवेदी

विषयानुक्रमणिका

विषय–वस्तु | पृष्ठ–संख्या

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

विषय–वस्तु पृष्ठ–संख्या

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

भूमिका
UNIVERSITY OF ALLAHABAD
QUOT RAMI TOT ARBORES

भूमिका

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च

यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।

यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।

वेद भारतीय सभ्यता–संस्कृति का प्राणभूत तत्त्व है। सम्पूर्ण विश्व की दार्शनिक चिंतनधारा अन्ततोगत्त्वा वेद रूपी समुद्र में समाहित हो जाती है। सकल वैदिक चिंतन सत्य, धर्म, प्रकृति, ब्रह्माण्ड एवं ब्रह्म का अनुशीलन कहा जा सकता है। वेद ब्रह्म, जीवन, जगत् एवं इससे सम्बद्ध विविध जटिल प्रश्नों का समाधान एवं सत्य का अन्वेषण करने वाला एक दिव्य प्रकाश–पुञ्ज है।

शतपथ ब्राह्मण वेद की सत्ता एवं सार्थकता के विषय में अपना विचार प्रस्तुत करता है–"यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णा ददत् लोकं जयति–त्रिभिस्तावन्तं जयति, भूयांसं च अक्षय्यं च य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः,"[1] अर्थात् वेदाध्ययन से मात्र भौतिक स्वर्ग की ही संतृप्ति नहीं होती, प्रत्युत् श्रेयमार्ग प्राप्ति के लिये क्षमता भी विकसित होती है।

वेद प्राकृतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, धार्मिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक विचारधारा का मूलश्रोत रहा है, क्योंकि सम्पूर्ण वेद में किसी न किसी रूप में अग्नि, जल, क्षिति, वायु एवं आकाश का वर्णन प्राप्त होता है। प्रायः इन्द्र, अग्नि एवं वरूण सूक्त में प्राकृतिक स्वरूप के साथ तुलनात्मक अध्ययन करते हुये देवों के भव्य व्यक्तित्त्व का प्रस्तुतीकरण किया गया है। गृह्यकर्मकाण्ड में प्रयुक्त होने वाला "षोडश संस्कार" सामाजिक एवं

---

1. शतपथ ब्राह्मण – 11/5/6/1

सांस्कृतिक वर्णन के साथ–साथ "आश्रम चतुष्टय" अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की अवधारणा का भी सम्यक् वर्णन करता है। श्रौतकर्मकाण्ड एवं गृह्य–कर्मकाण्ड दोनो ही स्थानों पर यम–नियम एवं शुचिता पर मौलिक चिंतन प्रस्तुत किया गया है, अर्थात् दोनों ही परम्पराओं में धर्म एवं नैतिकता महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। शुक्लयजुर्वेद माध्यन्दिन वाजसनेयी संहिता में वर्णित शिवसंकल्पसूक्त से मनोवैज्ञानिक चिंतनधारा का स्पष्ट निदर्शन प्राप्त होता है।

शिवसंकल्पसूक्त के विषय में मनुस्मृति का कथन है– "शिवसंकल्पजापेन समाधिं–मनसो लभेत"।[1] आध्यात्मिक विषय पर चिंतन करने पर ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण वेद ही आध्यात्मपरक् है, क्योंकि वेद का प्राथमिक एवं मूल उद्देश्य जीव को ब्रह्मज्ञान कराना है। ब्रह्मज्ञान के विषय में ऐसा वर्णन प्राप्त होता है–

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन्, स ब्रह्मभूयाय कल्पते।।[2]

अर्थात् वेद तत्त्वज्ञान प्राप्त करने एवं ब्रह्म का आत्मसाक्षात्कार करने का साधन है।

सामान्यतः संस्कृत का आधारस्तम्भ रूपी वेद सत्य–असत्य, नीति–अनीति, शुभ–अशुभ, कर्त्तव्य–परायणता, ब्रह्म, जीव एवं जगत् का उद्बोधन करने वाला एक दिव्य एवं अपौरूषेय ज्ञान है।

वेद शब्द के अर्थ एवं व्युत्पत्ति पर विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि यह विद् ज्ञाने, विद् विचारणे एवं विद् लृ लाभे धातु में घञ् प्रत्यय का योग करने पर निष्पन्न होता है, अर्थात् वेद का शाब्दिक अर्थ 'ज्ञान' है, अतः जिस विषय के माध्यम से मनुष्य को सत्य, रहस्य, जीवनदर्शन तथा ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है, उसे वेद कहा जा सकता है। प्रख्यात् विद्वान् विन्टरनिट्ज ने भी 'वेद'

---

1. मनुस्मृति–260/74
2. मनुस्मृति–12/102

का अर्थ ज्ञान स्वीकार किया है–'**The knowledge, par excellence and 'The sacred, the religious Knowledge**[1]'. वेद अत्यन्त विस्तृत विषय है, इसे मुख्यतः चार भागों में व्याख्यायित किया जाता है। वेद के चार भाग क्रमशः संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् हैं–

(1) संहिता

वेद के मंत्र भाग को संहिता कहते हैं। मंत्रों का समुच्चय एवं सूक्तों का समुच्चय ही संहिता कहा जाता है। वेद को श्रुति भी कहा गया है, क्योंकि श्रवण परम्परा से जीवित रहने के कारण इसे 'श्रुति' की संज्ञा दी जाती है। वेद के मंत्र एवं सूक्त भागों में सन्निबद्ध चार संहितायें प्राप्त होती हैं, ये क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद के नाम से प्रचलित हैं–

(1) ऋग्वेद–ऋग्वेद में 10 मंडल, 1028 सूक्त एवं 10472 मंत्र या ऋचायें सामान्यतः प्राप्त की जाती हैं। ऋग्वेद में पांच मुख्य शाखायें प्राप्त होती हैं, ये क्रमशः शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन एवं माण्डूकायन के नाम से प्रचलित हैं। ऋग्वेद धार्मिक सूक्तों से ओत–प्रोत अत्यन्त विस्तृत संहिता है, जिसके अन्तर्गत विभिन्न देवताओं के व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व का भव्य एवं भावाभिव्यक्तिपूर्ण शब्दों के साथ प्रशंसायुक्त सूक्तों का वर्णन एवं प्रार्थनायें हैं। वैदिक ऋषि–मुनि एवं जनसाधारण भी ऋग्वैदिक सूक्तों एवं मंत्रों के माध्यम से प्राचीनकाल से वर्तमान तक अपने अभीष्ट की सिद्धि करते रहे हैं। ऋग्वेद में अग्निसूक्त अथवा अग्नि देवता के लिये सबसे अधिक ऋचायें प्राप्त होती हैं। इन्द्र को अत्यन्त तेजस्वी, ओजस्वी एवं सर्वशक्तिसम्पन्न देवाधिपति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त सविता, पूषा, मित्र, विष्णु, रूद्र, मरूत आदि की ऋचायें प्राप्त होती हैं। ऋग्वेद में आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक, सास्कृतिक, प्राकृतिक, सामाजिक एवं जीवनोपयोगी समस्त विषयों पर चिंतन प्राप्त

---

1. वैदिक साहित्य का इतिहास, प्रभा कुमारी , पृष्ठ-3

होता है। ऋग्वेद में 'होता' नामक ऋत्विज् यज्ञानुष्ठान के समय मंत्रोच्चारण करता है।

(2) यजुर्वेद—यजुर्वेद में गद्यात्मक मंत्रों से 'अध्वर्यु' यज्ञ कृत्य का विधिवत् सम्पादन करता है। यजुर्वेद की शाखा के सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण में ये कथन प्राप्त होता है – "आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यान्ते"।[1] वस्तुतः वेद के दो सम्प्रदायों में 'आदित्य' शुक्ल – यजुर्वेद एवं 'ब्रह्मसम्प्रदाय'—कृष्णयजुर्वेद के नाम से प्रचलित है। सामान्यतः शुक्लयजुर्वेद में दर्शपूर्णमासादि यज्ञों से सम्बद्ध मंत्रों का संकलन है।

शुक्लयजुर्वेद—शुक्लयजुर्वेद का मंत्र भाग वाजसनेयी संहिता के नाम से प्रचलित है। वाजसनेयी संहिता में चालीस अध्याय है, ये अध्याय यजुर्वेद के विषयों का सामान्यतः परिचय कराते है। इस संहिता मे दर्शपूर्णमास से लेकर ईशावास्योपनिषद् तक वर्णन प्राप्त होता है। शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन एवं 'काण्व' शाखायें प्राप्त होती हैं।

कृष्णयजुर्वेद—कृष्णयजुर्वेद में मंत्रों के निर्देश के साथ—साथ ब्राह्मण का भी समिश्रण प्राप्त होता है। कृष्णयजुर्वेद की क्रमशः चार शाखाये उपलब्ध हैं— तैत्तिरीय, मैत्रायणीय, कठ एवं कपिष्ठल।

(3) सामवेद—वैदिक संहिताओं में सामसंहिता के अन्तर्गत गेय मंत्रों का संकलन किया गया है। साम संहिताओं के प्रयोजन के अवसर पर 'उद्गाता' नामक ऋत्विक् साम मंत्रों को गायन विधि के माध्यम से प्रस्तुत करता है। ऋग्वेद में 'साम' से सम्बद्ध प्रशंसायुक्त मंत्र प्राप्त होता है – यो जागार तम् ऋचः कामयन्ते।

यो जागार तमु सामानि यन्ति।।[2]

---

1. शतपथ ब्राह्मण – 14/9/5/33
2. ऋग्वेद – 5/44/14

अर्थात् जो ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति जागरणशील है, उसी को साम प्राप्त होता है, परन्तु जो निद्रालु या आलस्य–सम्पन्न है, वे साम गायन में कभी भी प्रवीण नहीं हो सकते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में साम की अत्यन्त रमणीय निरूक्त प्राप्त होती है–

''सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्''।[1]

बृहदारण्कोपनिषद् की उपर्युक्त उक्ति में 'सा' शब्द का अर्थ है ऋक् एवं 'अम' का अर्थ है गान्धारादि स्वर, अतः 'साम' शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ हुआ ऋक् के साथ सम्बद्ध स्वरप्रधान गायन। सामवेद में मुख्यतः कौथुम, राणायनीय एवं जैमनीय शाखा प्राप्त होती है। 'साम' में क्रमशः चार गान उपलब्ध होते हैं –वेदगान, आरण्य–गान, ऊहगान तथा उह्यगान। प्रथम दो गान 'योनिगान' एवं अन्य दो 'विकृति गान' हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार 'साम सात प्रकार का होता है–(1) हिंकार (2) प्रस्ताव (3) आदि (4) उद्‌गीथ (5) प्रतिहार (6) उपद्रव (7) निधन।

(4) अथर्ववेद – प्रारम्भिक तीनों वेद (संहितायें) स्वर्गलोक एवं मोक्षदायी मार्गो के विषय में कथन करते हैं, परंतु अथर्ववेद अभीष्ट फल की भी प्राप्ति कराता है। वेदत्रयी में अथर्ववेद सम्मिलित नही है। उसकी गणना परवर्ती साहित्य के रूप में हुयी है। अथर्ववेद में जीवन में दुःखों से त्राण एवं सुख–वृद्धि के लिये विभिन्न प्रकार के अनुष्ठानों का विधान किया गया है। अथर्ववेद में यज्ञकार्य का निरीक्षण एवं निर्देशन करने वाला 'ब्रह्मा' ऋत्विक् होता है। ब्रह्मा वस्तुतः यज्ञ का अधिष्ठाता या अध्यक्ष होता है, क्योंकि ब्रह्मा यज्ञानुष्ठान का निरीक्षण एवं उसमें उत्पन्न होने वाली बाधाओं एवं त्रुटियों का निराकरण करता है। अथर्ववेद को

---

1 बृहदारण्यकोपनिषद् - 1/3/22

"ब्रह्मवेद" एवं 'अथर्वाअङ्गिरसवेद' भी कहा जाता है। अथर्ववेद में सामान्यतः आयुवृद्धि, प्रायश्चित्, शत्रुनाशक एवं पारिवारिक एकता से सम्बद्ध मंत्र प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद में अभिचार मंत्रों एव स्वास्थ्य विषयक मंत्रों का अत्यधिक प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक मंत्र एवं अन्य वेदों से सम्बद्ध मंत्रों की पुनरावृत्ति भी हुयी है। इस वेद में मांगलिक मंत्रों एवं यज्ञमार्ग में व्यवधान को समाप्त करने वाले मंत्रों का भी संकलन हुआ है। अथर्ववेद में सम्पूर्णतः 20 कांड, 34 प्रपाठक, 111 अनुवाक, 731 सूक्त एवं 5849 मंत्र उपलब्ध होते हैं। सामान्यतः भैषज्यसूक्त, आयुष्य–सूक्त, पोष्टिकानि सूक्त, प्रायश्चित्–सूक्त, स्त्रीकर्माणि–सूक्त, राजकर्माणि–सूक्त, दुन्दुभि–सूक्त, पृथिवी–सूक्त, ब्रह्मण्यानि–सूक्त, स्कम्भ–सूक्त एवं व्रात्य सूक्तादि से सम्बद्ध मंत्रों का संकलन अथर्ववेद में किया गया है। अथर्ववेद में तीन शाखायें प्राप्त होती हैं। ये तीन शाखायें क्रमशः इस प्रकार हैं–

(1) पिप्पलाद–पिप्पलाद मुनि इसके समर्थक थें।

(2) मौद – महाभाष्य (4/1/86) एवं शावरभाष्य 1/1/30 में वर्णन प्राप्त होता है।

(3) शौनक–शौनक शाखा में अथर्ववेद के 20 काण्ड, 731 सूक्त तथा 5987 मंत्रों का संकलन किया गया है।

2–<u>ब्राह्मण</u>

वेद की शाखा के अन्तर्गत ब्राह्मण–ग्रन्थ संहिताओं में आने वाले मंत्रों का यज्ञानुष्ठान प्रक्रिया के अनुप्रयोग में वर्णन करते हैं। ब्राह्मण के विषय में वामन शिवराम आप्टे का कथन है – "वेदों का वह भाग जो विभिन्न वैदिक यज्ञों के लिये वेदमंत्रों के प्रयोग के नियमों, उनकी व्युत्पत्ति एवं विवरणपूर्ण आख्या का

कथन करता है तथा जिसमें समय–समय पर सुविस्तृत दृष्टांतो के रूप में परम्परागत कथाओं एवं कहानियों का समावेश रहता है, ब्राह्मण कहलाता है।"[1] सामान्यतः ब्राह्मणग्रन्थ संहिताओं के कर्मकाण्डीय प्रयोग से सम्बद्ध है एव प्रत्येक संहिताओं के सम्बद्ध ब्राह्मण ग्रन्थ भी भिन्न–भिन्न हैं। यज्ञ का वर्णन, प्रयोग एवं प्रस्फुटीकरण करने वाला ग्रन्थ 'ब्राह्मण' कहा जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार वर्णित हैं–

(1) विधि–यज्ञ एवं उससे सम्बद्ध अङ्गों एवं उपाङ्गों के अनुष्ठान के वर्णन से सम्बद्ध है।

(2) विनियोग–सामान्यतः किसी मंत्र का प्रयोग किस उद्देश्य के लिये किया जा रहा है, इसका युक्तिसंगत कारण ब्राह्मणग्रन्थ ही प्रस्तुत करते हैं।

(3) हेतु–हेतु में ऐसे आवश्यक कारणों का वर्णन किया जाता है, जो यज्ञानुष्ठान विधि में उपयोगी होते हैं।

(4) अर्थवाद–यज्ञानुष्ठान में प्रयुक्त होने वाले निषिद्ध विषयों एवं पदार्थों का निषेध एवं निन्दा 'अर्थवाद' के रूप में प्रचलित है। इसका वर्णन ब्राह्मणग्रन्थों में विभिन्न स्थानों पर प्राप्त होता है–यथा–"अमेध्या वै माषा"[2] अर्थात् यज्ञ में माषा या उड़द निषिद्ध है।

(5) निरूक्त–विभिन्न प्रकार के वैदिक शब्दों का निर्वचन या व्युत्पत्ति का वर्णन ब्राह्मणग्रन्थों में सामान्यतः प्राप्त होता है।

(6) आख्यान–ब्राह्मण ग्रन्थों में बीच–बीच में आख्यानों अर्थात् कथाओं का वर्णन करने से इनमें रोचकता बनी रहती है। ब्राह्मणग्रन्थों में स्वल्पकाय एवं दीर्घकाय दोनो ही प्रकार के आख्यानों का वर्णन प्राप्त होता है।

(7) उपनिषद्–यह ब्रह्मतत्त्व के वर्णन से सम्बद्ध है।

---

1. श्री वामन शिवरामआप्टे – वैदिक साहित्य इतिहास–प्रभाकुमारी –पृ० 9
2. तैतिरीय संहिता – 5/1/8/1

ब्राह्मण ग्रन्थों का साहित्य अत्यन्त व्यापक है। सामान्यतः ब्राह्मणों की सख्या वैदिक सिद्धान्त के अनुसार इस प्रकार है–

(1) ऋग्वेद – ऐतरेय ब्राह्मण एवं शांखायन ब्राह्मण।

(2) शुक्लयजुर्वेद–शतपथ ब्राह्मण।

कृष्ण यजुर्वेद–तैत्तिरीय ब्राह्मण

(3) सामवेद–ताण्ड्य, षड्विंश, सामविधान, आर्षेय, दैवत, उपनिषद् ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ,वंश–ब्राह्मण एवं जैमिनीय ब्राह्मण।

(4) अथर्ववेद – गोपथ ब्राह्मण ।

ब्राह्मण ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

(1) ऐतरेय ब्राह्मण – ऋग्वेदस्थ मंत्रों के यज्ञानुष्ठान में प्रायोगिक वर्णन से सम्बद्ध है। ऐतरेय में 40 अध्याय, 8 पंचिका तथा 285 कंडिकायें हैं।

(2) शांखायन ब्राह्मण–ऋग्वेदस्थ यह ब्राह्मण 30 अध्यायों में विभक्त है।

(3) शतपथ ब्राह्मण – शुक्लयजुर्वेदीय शाखा के अन्तर्गत सबसे महत्त्वपूर्ण एवं विस्तृत ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण कहा जाता है । सौ अध्यायों वाले इस ब्राह्मण ग्रन्थ में शुक्लयजुर्वेदीय मंत्रों का कर्मकाण्डीय प्रयोग एवं याज्ञिक विधि का वर्णन किया गया है।

(4) तैत्तिरीय ब्राह्मण–कृष्णयजुर्वेदीय इस ब्राह्मणग्रन्थ के प्रथम एव द्वितीय काण्ड में आठ अध्याय एवं तृतीय काण्ड में बारह अध्यायों का वर्णन किया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, सोम, नक्षत्रेष्टि तथा राजसूय का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में सौत्रामणी, अग्निहोत्र, उपहोम तथा तृतीय काण्ड में बृहस्पतिसव, वैश्यसव आदि का वर्णन उपलब्ध होता है।

(5) ताण्ड्य ब्राह्मण–सामवेदीय ताण्ड्यब्राह्मण सामवेद के याज्ञिक प्रयोग से सम्बद्ध है। इस ब्राह्मण में साम एवं सोमयाग का मुख्यत. वर्णन किया गया है। इसी प्रकार समावेदस्थ अन्य ब्राह्मणों में भी सामवेद के मंत्रों का यज्ञानुष्ठान से सम्बद्ध प्रयोग एवं विधियों का वर्णन किया गया है।

(6) गोपथ ब्राह्मण–अथर्ववेद से सम्बद्ध एकमात्र ब्राह्मण ग्रन्थ गोपथ ब्राह्मण है। इसके दो भाग है–(1) पूर्वगोपथ–इसमें पांच प्रपाठक या अध्याय हैं। (2) उत्तरगोपथ–इसमें छह प्रपाठक या अध्याय हैं। दोनों प्रपाठकों का योग करने पर कुल 285 कण्डिकायें प्राप्त होती हैं। गोपथ ब्राह्मण मे अथर्ववेदीय ऋचाओं का यागदिक प्रयोग एवं यज्ञानुष्ठान विधि का वर्णन किया गया है। इसप्रकार ब्राह्मण वेद एवं संहिताओं के महत्त्वपूर्ण एवं अविभाज्य अंग है, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों के अभाव में मंत्रो का याज्ञादिक प्रयोग एवं अनुष्ठान–विधि सम्पन्न नही हो सकती है, ऐसी स्थिति में ब्राह्मण ग्रन्थों की उपादेयता स्वयं–सिद्ध है। वस्तुतः ब्राह्मणग्रन्थ वेद का व्याख्यान भाग कहा जा सकता है।

3–आरण्यक

आरण्यक के विषय में सायणाचार्य का कथन है कि "अरण्य में पाठ्य या अध्ययन होने के कारण इसका 'आरण्यक' नाम सर्वथा युक्तिसंगत प्रतीत होता है।"[1] सायणाचार्य का कथन है–

अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते।

अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते।।[1]

आरण्यक के अन्तर्गत यज्ञानुष्ठान के विधि एवं व्याख्यान का उपदेश नहीं होता है, प्रत्युत् यज्ञानुष्ठान में विद्यमान आध्यात्मिक तत्त्वों की मीमांसा होती है। आरण्यकों में प्राणविद्या का विशिष्ट निदर्शन होता है। आरण्यक में यज्ञानुष्ठान

---

1 तैत्तिरीयारण्यक भाष्य–श्लोक–6

के गुह्यतत्त्वों की विवेचना एवं उनका दार्शनिक चिंतन प्राप्त होता है। प्रायः आरण्यक एवं उपनिषद् में दार्शनिक चिंतन के विषय में समानता पायी जाती है, यथा–बृहदारण्यक जैसे आरण्यक ग्रन्थों को उपनिषद् के सदृश स्वीकार किया जाता है। इन दोनो में सादृश्यता का भाव होने पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि आरण्यक ग्रन्थ प्राणविद्या तथा प्रतीकोपासना पर अपना चितन प्रस्तुत करते हैं एवं उपनिषद् निर्गुण, निराकार ब्रह्म के प्रकृति का विवेचन एवं उनके साक्षात्कार करने की विधि का निदर्शन भी करता है। सामान्य भेद होने के बाद भी विषय–वस्तु एवं दार्शनिक चिंतन की साम्यता के आधार पर कहा जा सकता है कि उपनिषद् एवं आरण्यक में सादृश्य–भाव है। प्राणतत्त्व की दार्शनिकता एवं महत्ता के विषय में आरण्यक में ऐसा कथन है –

> सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः, तद्यथायमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानित्येवं विद्यात्।[1]

संहिताओं के आरण्यक क्रमशः इस प्रकार है–

(1) ऐतरेय आरण्यक–ऋग्वेद का यह महत्त्वपूर्ण आरण्यक है, इसके अन्तर्गत पांच आरण्यक हैं। प्रथम आरण्यक में महाव्रत का वर्णन है।, द्वितीय में निष्केवल्यशस्त्र तथा प्राणविद्या एवं पुरूष आदि का वर्णन है। तृतीय आरण्यक का दूसरा नाम संहितोपनिषद् है–इसमें संहिता, स्वर–व्यञ्जन एवं पद–पाठ इत्यादि का वर्णन है। चतुर्थ में महाव्रत के पंचम दिवस पर प्रयुक्त होने वाली कुछ महानाम्नी ऋचायें दी गयी है। पंचम में निष्केवल्यशस्त्र का वर्णन है।

(2) शांखायन आरण्यक–इस ऋग्वैदिक आरण्यक में पन्द्रह अध्याय है, इसमें आरण्यकों के मुख्य विषय का वर्णन किया गया है।

---

1. ऐतरेयारण्यक–2/1/6

(3) बृहदारण्यक–यजुर्वेदीय बृहदारण्यक में आत्मतत्त्व का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

(4) तैत्तिरीयारण्यक–कृष्णयजुर्वेदीय इस आरण्यक में आद्य पद के अनुसार वर्णन किया गया है– (1) भद्र (2) सहबै (3) चिति (4) युञ्जते (5) देववै (6) परे (7) शिक्षा (8) ब्रह्मविद्या (9) भृगु (10) नारायणीय।

(5) तवल्कार आरण्यक–यह सामवेद से सम्बद्ध आरण्यक है इसके चार अध्याय है एवं प्रत्येक अध्याय अनुवाकों में विभक्त है।

4–उपनिषद्

वेद का अन्तिम भाग होने के कारण इसे वेदान्त भी कहा जाता है। इसमें आरण्यकों से सम्बद्ध सभी दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन किया जाता है। उपनिषद् उप एवं नि उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से निष्पन्न है। सद् का अर्थ है–विशरण (नाश होना), गति (प्राप्त होना), अवसादन(शिथिल होना) इत्यादि। उपनिषद् वस्तुतः गुह्यविद्या एवं ब्रह्मविद्या का प्रतीक है। सामान्यतः उपनिषद् ग्रन्थों में आत्मा–परमात्मा, जीवन–जगत्, जीव–ब्रह्म तादात्म्य, माया, सृष्टि–संरचना, मानव–जीवनोद्देश्य, सृष्टि–प्रक्रिया, सूक्ष्म की उपयोगिता, ब्रह्मसाक्षात्कार एवं मोक्ष आदि से सम्बद्ध विषयों का वर्णन प्राप्त होता है। यद्यपि उपनिषदों की संख्या लगभग 250 है तथापि 11 प्रसिद्ध उपनिषद् सामान्यतः उपलब्ध है, ये क्रमशः ईशोपनिषद्, केनोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, कठोपनिषद, श्वेताश्वरोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद्, छांदोग्योपनिषद् एवं बृहदारण्यकोपनिषद् के रूप में प्रचलित हैं।

वेदाङ्ग

वेद के गूढ़ एवं क्लिष्ट ज्ञान को प्राप्त करने के लिये वेदाङ्ग की रचना की गयी । वेद का यथार्थगत् सत्यापन करने वाले वेदाङ्ग संख्या की दृष्टि से छह प्रकार के हैं। वेदाङ्ग क्रमशः शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द एवं ज्योतिष् के रूप में प्रचलित है।

(1) शिक्षा–शिक्षा वेद पुरूष का घ्राण है। शिक्षा के विषय में सायणाचार्य का कथन है– "स्वर वर्णाद्युच्चारणप्रकाशे यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा"[1] अर्थात् शिक्षा में उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित इत्यादि के उच्चारण का उपदेश किया जाता है। स्वर की उपयोगिता महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि स्वरमात्र के अपराध से इन्द्रशत्रु वृत्रासुर मारा गया था। शिक्षाशास्त्र मे चार प्रातिशाख्य क्रमशः इस प्रकार है– ऋग्वेद प्रातिशाख्य, वाजसनेयी प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य एवं अथर्ववेद–प्रातिशाख्य।

(2) कल्प–ब्राह्मण ग्रन्थों में यागादिक क्रियाओं ने विस्तृत स्वरूप धारण कर लिया था, जिससे उनके सम्पादन एवं अध्ययन में कठिनाई उत्पन्न हो रही थी, इस समस्या के निराकरण हेतु 'कल्प' की रचना हुयी। कल्प साहित्य में यागादिक क्रियाओं को क्रमबद्ध एव सुनियोजित कर दिया गया है। कल्प के शाब्दिक अर्थ के विषय में ऐसा कथन है–

"कल्पो वेद–विहितानां कर्मणामानुपूर्वेण कल्पना–शास्त्रम"।[2]

अर्थात् वेद में विहित कृत्य को क्रमपूर्वक व्यवस्थित करने वाला शास्त्र कल्प शास्त्र कहा जाता है।

कल्पसूत्र क्रमशः चार प्रकार के है–श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र एवं शुल्बसूत्र।

(1) श्रौतसूत्र–श्रौतसूत्र में ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित ऐसे यज्ञानुष्ठान हैं, जिनकों मात्र वैदिक अग्नि में ही सम्पन्न किया जाता है, यथा–अग्निहोत्रयज्ञ, दर्शपूर्णमासयज्ञ एवं सोमयज्ञ इत्यादि।

(2) गृह्यसूत्र–गृह्यसूत्र के अन्तर्गत गृहस्थ अग्नि में यज्ञानुष्ठानों का सम्पादन किया जाता है। गृह्यकर्मकाण्ड को साधारण गृहस्थ लोग करते हैं,

---

1. सायण–ऋग्वेद भाष्य भूमिका, – पृ0–49
2. विष्णुमित्र–ऋग्वेद–प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति, पृ0–13

यथा–पञ्चमहायज्ञ, उपनयन, विवाह इत्यादि संस्कार गृहस्थ अग्नि में ही सम्पन्न किये जाते हैं।

(3) धर्मसूत्र–धर्मसूत्र में राजधर्म का कर्तव्य, चतुर्वर्णो का विवेचन एवं आश्रम चतुष्टय के कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है।

(4) शुल्बसूत्र–'शुल्ब' शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'रज्जु' अर्थात् रज्जु के अनुसार मापी गयी वेदी की रचना ही शुल्बसूत्र का मुख्य विषय है। शुल्बसूत्र में प्राचीन ज्यामिति एवं गणितशास्त्र का प्रतिपादन किया गया है। वेदी निर्माण की पद्धति एवं उसको व्यवस्थित करने से सम्बद्ध वैज्ञानिक नियमों का वर्णन प्राप्त होता है।

(5) व्याकरण–व्याकरण के विषय में यह कथन प्रचलित है कि यह वेद पुरूष का 'मुख' है एवं व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है–"व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्" अर्थात् पदों की मीमांसा करने वाला शास्त्र व्याकरण है। सुबन्त एवं तिङ्न्त पदों की व्याख्या प्रस्तुत करने वाला शास्त्र व्याकरण है। यह वैदिक मंत्रों के व्याकरणात्मक अर्थ एवं भावों को सुस्पष्ट करने वाला महत्त्वपूर्ण वेदाङ्ग है। वर्तमान में वेदाङ्ग का प्रतिनिधित्त्व करने वाला मात्र पाणिनीय व्याकरण है। महर्षि पाणिनि ने लगभग 4000 लघु सूत्रो में संस्कृत विषय के सुस्पष्ट अर्थ बोध के लिये व्याकरण (अष्टाध्यायी) की रचना की है।

महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण के तेरह (13) प्रयोजन दिये है, जिनमें कुछ का वर्णन इस प्रकार है[1]–

(क) अपभाषण–वेद में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के उच्चारण सम्बन्धी दोषों के निराकरण का कार्य व्याकरण ही करता है।

---

1. वैदिक साहित्य एव सस्कृति, डा0 कपिलदेव द्विवेदी, पृष्ठ–349

(ख) दुष्टशब्द–शुद्धि एवं अशुद्धि का निर्धारण करने वाला व्याकरण ही है।

(ग) अर्थज्ञान–वेदार्थ के वास्तविक ज्ञान के लिये उसके व्याकरणगत् अर्थ का ज्ञान होना आवश्यक है।

(घ) धर्मलाभ–व्याकरण–दक्षव्यक्ति शुद्ध एवं धर्मपरक अर्थात् पवित्र शब्दों का उच्चारण करके पुण्यार्जित करता है। अशुद्ध शब्दों का उच्चारण करने वाला कष्ट भोगता है।

(ङ) नामकरण–नाम का व्याकरणगत् अर्थ स्पष्ट होना चाहिये। नामकरण कृदन्त में होना चाहिये, तद्धितान्त न हो इसका प्रयास करना चाहिये।

(4) निरूक्त–निरूक्त को निघण्टु की टीका कहा जाता है। निघण्टु के अन्तर्गत वेद के क्लिष्ट शब्दों का संग्रह किया गया है या इसमें क्लिष्ट एवं दुर्लभ शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। "कुछ विद्वत् परम्परा के लोग यास्क को ही निघण्टु का रचयिता स्वीकार करते हैं"।[1] निरूक्त के विषय में सायणाचार्य ने अपने भाष्य में इस प्रकार लिखा है–

"अर्थावबोधेनिरपेक्षतया पदज्ञानं यत्र उक्तं तत् निरूक्तम्"[2]

अर्थात् अर्थज्ञान के लिये स्वतन्त्ररूपेण पदों का संग्रह ही निरूक्त है। सामान्यतः यास्क रचित निरूक्त ही वेदाङ्ग का प्रतिनिधि शास्त्र है। सम्पूर्ण ग्रन्थ चौदह अध्यायों में विभक्त है। इस प्रकार निरूक्त में वैदिक शब्दों (दुर्लभ एवं क्लिष्ट) की व्युत्पत्ति विषयक अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है, अतः निरूक्त का वेदाङ्ग में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(5) छंद–वैदिक ऋचाओं के समुचित उच्चारण के लिये लयबद्धता एवं स्वरबद्धता होना अत्यावश्यक है, क्योंकि सस्वर एवं लयबद्ध उच्चारण से ही देवों के हृदय एवं मन को अपनी ओर आकृष्ट करके अभीष्ट फल की प्राप्ति की जा सकती है। यही कारण था कि वैदिक मंत्रों के लयबद्ध

---

1. वैदिक वाङ्मय का इतिहास–भाग–1–खण्ड–2–पृष्ठ 162
2. वैदिक साहित्य का इतिहास–प्र० कु० अ०–पृ० 13

उच्चारण के लिये उन्हें छंदों में प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार वैदिक मंत्रों को पढ़ना या उच्चारण करना तभी सम्भव हो सकता है जबकि छन्दरूपी 'वेदाङ्ग' का ज्ञान प्राप्त किया जाये। सामान्यतः वैदिक मंत्रो को गायत्री, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, बृहती, जगती इत्यादि छन्दों में प्रस्तुत किया गया है। पिंगल का 'छंदसूत्र' वेदाङ्ग का प्रतिनिधि ग्रन्थ स्वीकार किया जाता है।

(6) ज्योतिष्–'ज्योतिष्' वेदाङ्ग का अन्तिम भाग एवं वेद पुरूष का नेत्र है। वैदिक मंत्रों को सम्पादित करने के लिये एवं गृह्यकर्मकाण्डों में भी इसकी उपयोगिता है। ज्योतिष्शास्त्र शुभ–मास, शुभ–पक्ष, शुभ–तिथि, शुभ–समय एवं समुचित नक्षत्र तथा अन्य विषयों का ज्ञान प्रस्तुत करता है। यह ज्ञान यज्ञानुष्ठान के लिये आवश्यक है, क्योंकि यज्ञों का आयोजन भी अनुकूल नक्षत्र, पक्ष, तिथि, समय या मुहूर्त में किया जाता है, जिससे प्रभाव जनक फल प्राप्त हो सके। सामान्यतः ऋग्वेद के लिये 'आर्चज्योतिष्' एवं यजुर्वेद के लिये 'याजुष् ज्योतिष्' दो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। याजुष् ज्योतिष् में 43 श्लोक है एवं आर्चज्योतिष् में 36 श्लोक हैं। "वेदाङ्ग ज्योतिष्" के कर्त्ता का नाम लगध था, ऐसा आर्चज्योतिष् के श्लोक से सुस्पष्ट होता है–प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम्।

कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः।।[1]

इस प्रकार ज्योतिष्–वेदाङ्ग के ज्ञान के अभाव में वैदिक यज्ञानुष्ठान को सम्पादित नहीं किया जा सकता है। अतः ज्योतिष्रूपी अन्तिम वेदाङ्ग महत्त्वपूर्ण है।

वेद के विषय को सुस्पष्ट करने के उपरांत मनोविज्ञान का भी सामान्य परिचय आवश्यक है।

---

1. आर्चज्योतिष्–श्लोक–2

मनोविज्ञान

मनोविज्ञान को आंग्ल् भाषा में Psychology कहते हैं। Psychology में Psycho शब्द ग्रीक भाषा के Psyche शब्द से बना है, इसका अर्थ आत्मा एवं मन है। Logy शब्द भी ग्रीक भाषा के Logas शब्द से बना है, इसका अर्थ ज्ञान या विज्ञान है। इस प्रकार मनोविज्ञान (Psychology) को आत्मा या मन का विज्ञान कहा जा सकता है। प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक चार्ल्स ई स्किनर (charls E. Skinner) ने मनोविज्ञान को इस प्रकार परिभाषित किया है–

"Psychology deals with responses to any and every kind of situation that life presents. By responses or behaviour is meant all forms of processes adjustment, activities and expressions of the organism."[1]

मनोविज्ञान से सम्बद्ध मुख्य आधारभूत विषय इस प्रकार हैं–स्नायुमण्डल (Nervous system) संवेदना (Sensation), प्रत्यक्षीकारण (Perception), अवधान (Attention), सीखना (Learning), स्मरण (Remembering) विस्मरण (Forgetting) कल्पना (Imagination), चिन्तन (Thinking), अनुभूति (Feeling), संवेग (Emotion), प्रेरणा (Motivation), चेतना (consciousness), स्वप्न (Dream), बुद्धि (Intelligence), योग्यता (Aptitude), व्यक्तित्त्व (Personality), विफलता (Frustration) इत्यादि।[2]

वैदिक संहिताओं में समुपलब्ध ऋचायें मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं से परिपूर्ण हैं। मनोवैज्ञानिक सम्प्रत्ययों एवं उनके सिद्धान्तों का प्रायोगिक स्वरूप वैदिक कर्मकाण्डों में प्राप्त होता है। वैदिक कर्मकाण्डों के मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन के पूर्व उन वैदिक ऋचाओं का प्रस्तुतीकरण आवश्यक है, जिनके

---

1. Charls E. Skinner, Educational Psychology P.1
2. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश–निर्मला शेरजंग

माध्यम से मनोवैज्ञानिक विषयवस्तु की अभिव्यञ्जना होती है। प्रेरणा (Motivation) को इस प्रकार वैदिक मंत्र में प्रस्तुत किया गया है–

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।[1]

अर्थात् "इस मन के माध्यम से कर्मठ एवं धीर ज्ञान सम्पन्न लोग यज्ञ तथा शास्त्रार्थों में कर्म करते है। यह अपूर्व एवं पूज्य मन प्राणिमात्र के अन्तः में है, ऐसा मेरा मन शुभ विचार से सम्पन्न हो"। मानव अपने जीवन में सुख–समृद्धि एवं यज्ञ के प्राप्ति के निमित्त यज्ञानुष्ठान का आयोजन करता है। इन समस्त अभीष्ट लक्ष्यों की ओर आंतरिक प्रेरणा (Motivation) प्रदान करने वाला प्रमुख तत्त्व मन (Mind) है। मन ही मनुष्य को श्रेय या प्रेय मार्गो का वरण करने के लिये आन्तरिक प्रेरणा प्रदान करता है। इस प्रकार मन एक आन्तरिक प्रेरणा के रूप में मनुष्य को अभीष्ट के प्रति प्रेरित करता है। मनोविज्ञान भी प्रेरणा के विषय में ऐसा कथन प्रस्तुत करता है–**"A motive is any particular internal factor or condition that to initiate and to sustain activity."**[2]

शिवसंकल्पसूक्त में विद्यमान मंत्र मन को स्मृति एवं धारणा–शक्ति का मुख्य साधन स्वीकार करता है। स्मृति एवं धारणा से सम्बद्ध वर्णन इस ऋचा में उपलब्ध है– यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्जोतिरन्तरमृतं प्रजासु।

यस्मान्नऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।[3]

अर्थात् "ज्ञान, स्मृति एवं धारणा–शक्ति का प्रमुख साधन मन है। यह प्राणिमात्र के अन्दर अमरज्योति है, इसके बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता है, ऐसा मन शुभ विचार सम्पन्न हो"। आधुनिक मनोविज्ञान भी Cognition

---

1. यजुर्वेद–34/2
2. J.P. Guilford, Geneial Psychology-1956-P-91
3. यजुर्वेद–34/3

(ज्ञान), Remembering (स्मरण) एवं Retaintion (धारणा) आदि को स्वीकार करता है। मनोविज्ञान का स्मृति (Remembering) के विषय में ऐसा कथन है– **"Memory Consists in remembering what has previously been learnt".**[1]

धारणा (Retaintion) के विषय में मनोविज्ञान का विचार इस प्रकार है– "जो कुछ भी सीखा जाता है, वह मस्तिष्क पर स्मृति–चिन्हों के रूप में स्थित हो जाता है, उसकी आवश्यकता पडने पर वह धारणा–शक्ति के आधार पर पुनः सम्मुख आ जाता है।" प्रायः वैदिक ऋषि भी यज्ञानुष्ठान प्रक्रियाओं को मंत्रों की धारणा एवं स्मरण–शक्ति के आधार पर ही सम्पन्न करते थें। अतएव मन की ज्ञानशक्ति, स्मरणशक्ति एवं धारणाशक्ति की अत्यधिक उपयोगिता है। मन की ये शक्तियाँ आविर्भूत हो, इसी निमित्त उपर्युक्त मंत्र में प्रार्थना की गयी है।

अथर्ववेद में मन को कल्पना एवं चिंतन का नेतृत्त्व करने वाला स्वीकार किया गया है–मनसा संकल्पयति, तद् देवाँ अपि गच्छति।

अथोह ब्रह्माणो वशाम्, उपप्रयन्ति याचितुम्।।[2]

अर्थात् मन से ही संकल्प या चिंतन किया जाता है। वस्तुतः चिंतन को मनोविज्ञान भी परिभाषित करते हुये कहता है कि "वस्तुओं के आन्तरिक प्रयोग के द्वारा किसी निष्कर्ष पर पहुॅचने की क्रिया को चिंतन कहते हैं"।[3] इस परिभाषा में आन्तरिक प्रयोग के माध्यम से मन का स्पष्टीकरण होता है, अर्थात् मन ही चिंतन या संकल्प का निर्धारण करता है।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रेड्रिक बार्टलेट के अनुसार "चिंतन एक उच्चस्तर का कुशलतापूर्वक व्यवहार होता है, जिसमें अभिव्यक्ति के लिये चिन्हों एवं प्रतीकों की आवश्यकता पड़ती है।"[4]

---

1. Woodwarth & Marquish-शिक्षा मनोविज्ञान डा० एस० एस० माथुर–पृ० 236
2. अथर्ववेद–12/4/31
3. रामकृष्ण टण्डन–मनोविज्ञान के मूलाधार 1971–पृ० 260
4. सामान्य मनोविज्ञान–जयनारायण सुमन–पृ० 213

मनोविज्ञान के लगभग सभी आधारभूत विषयों का स्पष्टीकरण अथर्ववेद में प्रयुक्त हुये इस मंत्र से अभिव्यक्त है–

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्।।[1]

अर्थात् हम मनन शक्ति के लिये, प्रेरणाओं एवं संवेदनाओं के लिये, चेतन एवं चिन्तन के लिये, धारणात्मक बुद्धि या अवधान के लिये, संकल्पों या विविध संवेगों के लिये, स्मृति के लिये, बुद्धि के लिये, श्रवण या शिक्षण क्रिया के लिये एवं दर्शन–क्रिया अर्थात् प्रत्यक्षीकरण के लिये हवि से पूजन करते हैं, इस मंत्र में समस्त प्रकार के मनोवैज्ञानिक विषयवस्तु का स्पष्टीकरण हुआ है, ये क्रमशः–Sensation (संवेदना), Motivation (प्रेरणा), Consciousness (चेतना), Thinking (चिन्तन), Attention (अवधान), Emotions (संवेग), Remembering (स्मरण), Forgetting (विस्मरण), Intelligence (बुद्धि), Learning (सीखना) एवं Perception (प्रत्यक्षीकरण)[2] के नाम से मनोविज्ञान के मुख्य विषय के रूप में अभिज्ञात हैं। मन की विभिन्न शक्तियों के अन्तर्गत उपर्युक्त मंत्र में अष्ट–शक्तियों का निर्धारण किया गया है। ये अष्ट–शक्तियॉ मनोवैज्ञानिक चिंतन का मूलाधार हैं। मनोविज्ञान विषयक उपर्युक्त तत्वों का पारिभाषिक वर्णन इस शोधग्रन्थ में कर्मकाण्डों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में प्रस्तुत किया गया है। संवेगात्मक परिवर्तन एवं इच्छा–शक्ति (will Power) से अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि सरल हो जाती है। इच्छा–शक्ति का वर्णन ऋग्वेद में इस प्रकार है–

यमैच्छाम मनसा सोऽयमागाद्, यज्ञस्य विद्वान्, पुरूषश्चिकित्वान्।
स नो यक्षद्, देवताता यजीयान नि हि षत्सदन्तरः पूर्वो अस्मत्।।[3]

अर्थात् "हमने जिसकों मन से प्राप्त करना चाहा, वह यज्ञ का ज्ञाता, यज्ञ के अंगों को जानने वाला अग्नि आ गया, वह देवसमूह में सर्वाधिक पूज्य है, वह

---

1. अथर्ववेद–6/41/1
2. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोष–निर्मला शेरजंग
3 ऋग्वेद–10/53/1

हमारे लिये यज्ञ करे, वह पूर्ववर्त्ती है, वह हमारे मध्य में बैठे"। इस मंत्र से यजमान के अन्तः में तीव्र संवेगात्मक परिवर्तन उत्पन्न होता है, ये परिवर्तन कार्यसिद्धि के मार्ग को प्रशस्त करता है। तीव्र संवेगात्मक परिवर्तन के फलस्वरूप कार्य–सिद्धि की तीव्र उत्कण्ठा या मनोवैज्ञानिक भाषा में Acute desire का उन्नयन होता है। तीव्र संवेगात्मक परिवर्तन मनुष्य में कार्य या लक्ष्य के प्रति तीव्रता उत्पन्न करता है। इसके समर्थन के विषय में मनोविज्ञान का कथन इस प्रकार है–**"An acute disturbance of the individual as a whole Psychological in origin, involving behaviour, Conscious experience and visceral functioning"**[1]

तांड्यब्राह्मण भी स्वीकार करता है कि प्रथम मनुष्य के मानसिक भाव उत्पन्न होते है तब उसके अनुसार वाणी उत्पन्न होती है। ताण्ड्यब्राह्मण का कथन इस प्रकार है–

"मनो हि पूर्व वाचः, यद् हि मनसाभिगच्छति तद् वाचा वदति।"[2]

वस्तुतः इच्छा–शक्ति (Will Power) से ही मनुष्य के जीवन में विकास एवं विविध प्रकार के अभीष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति होती है। इच्छा–शक्ति मनुष्य में क्रियाशीलता उत्पन्न करती है, ऐसा ही वर्णन इस मंत्र से प्राप्त होता है–

अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः कृणातु मह्यमसपत्नमेव।

विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवा हवमा यन्तुम इमम्।।[3]

अर्थात्–प्रतापी एवं बलवान इच्छाशक्ति मेरा संचालक है। वह मुझे शत्रु रहित करे, सभी देवता मेरे रक्षक हो, सभी देव मेरे इस यज्ञ में आयें।

इस प्रकार इच्छाशक्ति–सम्पन्न (Will powered) उपर्युक्त मंत्र के उच्चारण से यजमान के अन्तः में तीव्र संवेगात्मक परिवर्तन उत्पन्न होते हैं,

---

1. P T Young-Emotion in Man & Animal-1943-P-60.
2. ताड्य ब्राह्मण–11/1/3
3. अथर्ववेद – 9/2/7

जिसके फलस्वरूप व्यक्ति विशेष अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। वैदिक मंत्रों में बुद्धि की परिपुष्टता के लिये भी मंत्रजप के साथ ईश्वर से प्रार्थना की जाती है, ऐसा मंत्र कथन करता है–

ॐ भूर्भुवः स्वः। तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो योनः प्रचोदयात्।।[1]

अर्थात् "सच्चिदानन्द स्वरूप, संसार के पालनकर्त्ता परब्रह्मपरमेश्वर के सर्वोत्कृष्ट तेज को हम धारण करते हैं, वह परमेश्वर हमारी बुद्धि को सत्कर्मो की ओर प्रेरित करें"।

उपर्युक्त मंत्र में प्रार्थना करते समय यजमान मंत्र–शक्ति से परमात्मा से आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, जिससे परमात्मा के सद्‌गुण हमारे मन में सद्‌गुण रूपी प्रेरणा के रूप में स्थापित हो जाये और यह प्रेरणा–शक्ति हमें सदैव सत्कर्मो की ओर प्रेरित करे। उपर्युक्त मंत्र का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इससे परमात्मा या सत्कर्मो के प्रति भावनात्मक संयोग एवं सद्‌गुण रूपी प्रेरणा–शक्ति सत्कर्मो की ओर प्रेरित करती है। क्रोध, ईर्ष्या से कुण्ठा (Frustration) उत्पन्न होता है, जिसमें मनुष्य का मानसिक पतन हो जाता है। मानसिक पतन का निर्देश इस मंत्र से प्राप्त होता है– अदो यत्ते हृदि श्रितं, मनस्कं पतयिष्णुकम।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि, निरूष्माणं दृतेरिव।।[2]

अर्थात् "हे पुरूष! तेरे हृदय में जो यह पतनोन्मुख मन है, उससे तेरी ईर्ष्या को उसी प्रकार बहिर्गत् करता हूँ जैसे धोंकनी या मशक से गर्मी को"।

ईर्ष्या या कुण्ठा (Frustration) के विषय में मनोविज्ञान का मत है "जब व्यक्ति को कोई वस्तु नहीं प्राप्त होती है, तो उसमें उसके प्रति कुण्ठा या ईर्ष्या का भाव उत्पन्न होता है"।[3]

---

1. यजुर्वेद–36/3, ऋग्वेद–3/62/10
2. अथर्ववेद–6/18/3
3. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश–निर्मलाशेरजग

ईर्ष्या या कुण्ठा की स्थिति में मनुष्य का मानसिक स्वास्थ्य असन्तुलित हो जाता है। सद्विचार से ही ईर्ष्या या कुण्ठा का निराकरण हो सकता है। सद्विचार विषयक वर्णन इस मंत्र से सुस्पष्ट है–

अग्नेरिवास्य दहतो, दावस्य दहतः पृथक्।
एतामेतस्येर्ष्याम्, उद्नाग्निमिव शमय।।[1]

अर्थात् हे शुभ विचार! अग्नि की तरह भस्म करने वाले एवं दावाग्नि के सदृश जलाने वाले, इस मनुष्य की ईष्या को उसी प्रकार शान्त कर जैसे जल से अग्नि को शांत करते हैं।

उपर्युक्त मंत्र में यह प्रार्थना व्यक्त की गयी है कि परमात्मा यजमान के मस्तिष्क में ऐसी सद्वृत्तियाँ एवं सुविचार विकसित करे कि अन्तःकरण में ईर्ष्या या कुण्ठा का पूर्णतः उन्मूलन हो जाये एवं मस्तिष्क पूर्णतः सन्तुलित अवस्था में आ जाये। उपर्युक्त दोनों मंत्रों के मनोवैज्ञानिक विवेचन से मानसिक स्वास्थ्य को विकसित करने का भाव प्राप्त होता है। संतुलित एवं स्वस्थ मानसिक स्थिति का समर्थन मनोविज्ञान भी करता है। प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक हेडफिल्ड का मानसिक स्वास्थ्य के विषय में ऐसा कथन है–"**Mental Hygiene is "concerned with the maintenance of mental health and prevention of mental disorders".**[2]

शतपथ ब्राह्मण में भी मनोविज्ञान के मूलाधार तत्त्वों का विवेचन इस प्रकार प्राप्त होता है– "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिः ह्रीः धीः भीः इत्येतत् सर्वं मन एवं,"[3] अर्थात् इस वाक्य में काम अर्थात् इच्छा, संकल्प अर्थात् विचार, विचिकित्सा अर्थात् सन्देह, श्रद्धा–अश्रद्धा, धृतिः अर्थात् धैर्य, अधृतिः अर्थात् अधीरता, ह्रीः अर्थात्, लज्जा, धी अर्थात् ज्ञान एवं भी अर्थात् भय का वर्णन किया गया है।

मन में प्रेरणा शक्ति है, ऐसा मनोवैज्ञानिक निर्देश भी शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध है–'मन एवाग्निः'।[4]

---

1. अथर्ववेद–7/45/2
2. शिक्षा मनोविज्ञान –डा0 एस0 एस0 माथुर–पृ0 375–01 Headfield-Mental Halth & Psychoneurosis
3. शतपथ ब्राह्मण–14/4/3/9
4. शतपथ ब्राह्मण--10/1/2/3

श्रौतकर्मकाण्ड का सामान्य परिचय

श्रौतयाग को सामान्यतः दो श्रेणी में विभक्त किया जा सकता है।

(1) हविर्याग (2) सोमयाग।

(1) हविर्याग– श्रौतयाग में जब दुग्ध, घृत एवं पुरोडाश इत्यादि की हवि अग्नि में समर्पित की जाती है, तो इसे "हविर्याग" कहते हैं।

(2) सोमयाग– सोमयाग के अन्तर्गत सोमलताओं (वनस्पतियों) का सवन करके अर्थात्, रस निकालकर आहुति दी जाती है।

दोनो प्रकार के यागों का सम्पादन श्रौताग्नि में ही किया जाता है। तीन प्रकार की श्रौताग्नियाँ सामान्यतः प्रचलित हैं। ये क्रमशः इस प्रकार हैं–

(1) गार्हपत्याग्नि – गार्हपत्याग्नि में हवि योग्य पदार्थों की पाक क्रिया होती है।

(2) आहवनीयाग्नि – आहवनीयाग्नि में पवित्र देवताओं को आहुति दी जाती है।

(3) दक्षिणाग्नि – दक्षिणाग्नि में पितृयज्ञ एवं उससे सम्बद्ध विशिष्ट कर्म होते है। इन तीन प्रचलित वैदिक अग्नियों के अतिरिक्त एक "सभ्य–अग्नि" भी होती है, इसका प्रयोग विशेष प्रकार के यज्ञों को सम्पादित करने के लिये होता है।

(1) हविर्याग

(1) अग्निहोत्र –अग्निहोत्र यज्ञाग्नि को पूज्य या साध्य स्वीकार करके प्रातः एवं सायंकाल किया जाने वाला एक विशिष्ट यज्ञ कर्म है। इस यज्ञ कर्म में प्रातःकाल "सूर्योज्योतिज्योतिः सूर्यः स्वाहा"[1] मंत्र के साथ सूर्य को अग्नि स्वरूप स्वीकार करके आहुति दी जाती है एवं सायंकाल में सूर्य के अग्नि में समाहित हो जाने पर "अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा"[2] मंत्र के साथ आहुति दी जाती है। इस

1. यजुर्वेद –3/9
2. यजुर्वेद–3/9

यज्ञ में यावागू, तण्डुल, दधि, घृत इत्यादि काम्य द्रव्यों की आहुति दी जाती है। अग्निहोत्र से मनुष्य अनन्त संततियुक्त हो जाता है।

(2) दर्शपूर्णमास यज्ञ – दर्शपूर्णमास यज्ञ अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिवस पर किया जाने वाला विशिष्ट प्रकार का यज्ञ कर्म है। पौर्णमास पर सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञ में अग्नि के लिए अष्टकपाल पुरोडाशयाग, अग्नि एवं सोम के लिए घृतद्रव्यक उपाशुयाग एवं अग्नि तथा सोम के लिये एकादश कपाल पुरोडाशयाग होते हैं, अर्थात् पौर्णमास यज्ञ में अग्नि तथा सोम के लिये घृत एवं पुरोडाश की आहुति दी जाती है। अमावस्या पर किये जाने वाले यज्ञ में प्रथम अग्नि के लिए पुरोडाशयाग, द्वितीय इन्द्र के निमित्त पुरोडाश एवं दधिद्रव्यकयाग, तृतीय इन्द्र के लिए पयोद्रव्यकयाग, अर्थात् ये तीन आहुतियॉ दी जाती हैं। अमावस्या पर किये जाने वाले यज्ञ में अग्नि के लिये पुरोडाश एवं इन्द्र के लिये दधि तथा दुग्ध द्रव्यक आहुतियाँ दी जाती हैं। इस प्रकार तीन–तीन यज्ञों को एक समूह मान लेने पर दर्शपूर्णमासौ इस द्विवचनान्त शब्द का प्रयोग किया जाता है।

(3) चातुर्मास्य यज्ञ – चातुर्मास्य यज्ञ के अन्तर्गत तीन प्रमुख यज्ञ होते हैं, ये तीनों यज्ञ प्रत्येक चतुर्थ मास पर या तीन ऋतुओं पर ही किये जाते हैं–

(क) वैश्वदेव यज्ञ – यह वसन्त ऋतु पर किया जाने वाला यज्ञ है, इस यज्ञ में मरूतों के लिये सात कपालों में पुरोडाश होता है। इसमें सर्वप्रथम मरूतों को आहुति दी जाती है। यज्ञ की प्रत्येक स्थिति में अग्नि, सोम, सवितृ, सरस्वती एवं पूषन् के लिये भी पाँच आहुतियाँ होती हैं। इस यज्ञ के सम्पादन से मनुष्य प्रजा एवं संततियुक्त होता है।

ख) वरूणप्रधास – इस यज्ञ को वरूण के प्रकोप से संतति के रक्षा के निमित्त वर्षा ऋतु में किया जाता है। इसमें वरूण को मुख्यतः आहुतियाँ दी जाती हैं।

(ग) साकमेध – वरूणप्रधास के चतुर्थ मास के उपरांत हेमन्त ऋतु में साकमेध यज्ञ को सम्पादित करते है। इसमें मरूतों के लिए बलियों की संख्या अधिक होती है। इसमें पितरों का भोज प्रधान कृत्य है; इसीलिये इसे 'पितृयज्ञ' या "महापितृयज्ञ" भी कहते हैं। इन तीनों यज्ञों के अतिरिक्त एक "शुनासीर यज्ञ" भी होता है, इसमें वायु को दुग्धाहुति देना प्रधान कृत्य है।

(4) आग्रयण इष्टि – इस यज्ञ में नवीन फसलोत्पत्ति होने पर शरद्ऋतु में धान की एवं वसन्त ऋतु में यव (जौ) की आहुतियाँ दी जाती है। इस यज्ञ के सम्पादन के उपरांत ही नवीन फसल जनित अन्न खाया जाता है।

(5) पशुबन्ध या निरूढ़ पशुबन्ध – पशुयाग स्वतंत्र याग के अन्तर्गत आता है। स्वतंत्र पशुयज्ञ के अन्तर्गत आँत निकाले हुए पशु की आहुति दी जाती है। इसमें यज्ञ के निमित्त दुग्ध, घृतादि के कारण पशुओं को बॉधा जाता है। 'ऐकादशिन पशुयाग' में एक बलि पशु के स्थान पर एकादश बलिपशु को प्रयोग में लाते है।

(6) सौत्रामणी याग – सौत्रामणी इन्द्र से सम्बद्ध यज्ञ है। सामान्यतः राज्याभिषेक के अवसर पर राजा अपने श्री–वृद्धि के निमित्त इसको सम्पन्न करता है। इन्द्र के अतिरिक्त सरस्वती एवं अश्वनी भी सौत्रामणी के प्रमुख देवता हैं। उपर्युक्त देवों को सोमरस एवं जौ के पदार्थों की हवि प्रदान की जाती है।

(7) पितृयज्ञ – पितृयज्ञ का सम्पादन माता–पिता के दीर्घायु एवं उनके जीवन में सुख–समृद्धि की अभिवृद्धि के उद्देश्य से किया जाता है। अथर्ववेद में प्रस्तुत मंत्र माता–पिता के कष्ट से रक्षार्थ ऐसा कथन प्रस्तुत करता है–

यदन्तरिक्षं पृथिवीसुत द्यां यन्मातरं पितरं वा जिहि सम।
अयं तस्माद् गार्हपत्यो अग्निरूदिन्नयादि सकृतस्य लोकम्[1]।।

1. अथर्ववेद –6/120/9

सोमयाग

शतपथ ब्राह्मण में सोमयज्ञ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यज्ञ के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। सोमयज्ञ मे सोमलताओं का सवन (पीस) करके, उसका रस निकालकर आहुति दी जाती है। इसमें पूतीक एवं अर्जुन ओषधियों को प्रयोग में लाया जाता है। सोमयज्ञ में होता इत्यादि चारों ऋत्विजों के तीन–तीन सहायक ऋत्विज् होते हैं, अतः इस यज्ञ में कुल ऋत्विजों की संख्या सोलह हो जाती है। अध्वर्यु मण्डल में कमशः अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा तथा उन्नेता रहता है। होता के मण्डल में होता, मैत्रावरूण, अच्छावाक तथा ग्रावस्तुत् सम्मिलित रहते हैं। उद्गाता मण्डल में उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता तथा सुब्रह्मण्य का समावेश है। ब्रह्मा मण्डल में कमशः ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीघ्र तथा होता समाविष्ट रहता है। इस प्रकार प्रधान ऋत्विज् एवं उनके सहायकों को लेकर इस यज्ञ में 16 ऋत्विजों का समावेश होता है। सोमयज्ञ को विभिन्न क्रम मे सम्पादित किया जाता है–

सोमयाग एकाह–अर्थात् एक दिन तक चलने वाला, 'अहीन'– अर्थात् दो दिन से बारह दिन तक चलने वाला एवं 'सत्रयाग' अर्थात् 13 दिन से एक वर्ष–पर्यन्त या एक सहस्र दिवस–पर्यन्त तक सम्पादित किया जाता है।

(1) अग्निष्टोम–ऋग्वैदिक एवं सामवैदिक ऋचाओं के अन्तर्गत जब ''यज्ञायज्ञा वो अग्नये'' इस मंत्र के उच्चारण के साथ सामगान प्रस्तुत किया जाता है, तो यह 'अग्निष्टोम' कहलाता है। सामगान के अन्त में प्रस्तुति के कारण इसे अग्निष्टोम संस्था भी कहते हैं। अग्निष्टोम का शाब्दिक अर्थ है–अग्नि की स्तुति करना। अग्निष्टोम सोमयज्ञों का प्रकृति याग है, अतः सभी सोमयागों में 'अग्निष्टोम' आवश्यक है, यह पंचदिवसात्मक यज्ञ है।

(2) उक्थ–''सोमयज्ञों के अन्तर्गत सम्पन्न होने वाले अग्निष्टोम में जिन स्तोत्रों एवं शस्त्रों का प्रयोग होता है, उसके अतिरिक्त अन्य तीन स्तोत्रों एवं शस्त्रों का अनुप्रयोग सायंकाल सोमलताओं से रस निकालने के समय किया जाता है। इस प्रकार गाये जाने वाले एवं कहे जाने वाले (स्तोत्र

एवं शस्त्र) सम्पूर्ण संख्या की दृष्टि से पन्द्रह होते हैं''[1]अतः इसमें संख्या की दृष्टि से कुल पन्द्रह मंत्र हो जाते हैं।

(3) षोडशी–षोडशी में तृतीय सवन के अवसर पर एक स्तोत्र पाठ में अभिवृद्धि हो जाती है, अतः इसे षोडशी कहा जाता है।

(4) अतिरात्र–यह एक ही दिवस एवं रात्रि में सम्पन्न होता है, इसलिये इसें 'अतिरात्र' कहा जाता है। वस्तुतः षोडशी के उपरांत 'अतिरात्र' नामक साम–ऋचाओं का गान यज्ञ के अन्त में सम्पन्न करने के कारण इस कृत्य को 'अतिरात्र' कहते हैं।

(5) ज्योतिष्टोम–अग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी एवं अतिरात्र की प्रक्रिया को एक साथ सन्निबद्ध करने से इसे 'ज्योतिष्टोम' यज्ञ कहते हैं।

(6) अत्यग्निष्टोम–सामान्यतः इसमें अग्निष्टोम के समान ही विषय रहता है, परन्तु अत्यग्निष्टोम में विशिष्टता उत्पन्न करने के लिये इसमे षोडशी–स्तोत्र, षोडशी पात्र तथा इन्द्र के लिये एक पशु का अतिरिक्त संयोग करते हैं। अग्निष्टोम के उपरांत षोडशी सामगान से सम्पन्न करने के कृत्य को 'अत्यग्निष्टोम' कहते हैं।

(7) आप्तोर्याम–आप्तोर्याम वस्तुतः अतिरात्र के समान ही होता है, परन्तु यह अतिरात्र से विस्तृत स्वरूप धारण करता है। इसमे चार स्तोत्र एवं शस्त्र अतिरिक्त मात्रा में होता है। ये मैत्रावरूण, अच्छावाक एवं ग्रावास्तुत के द्वारा पढ़े जाते हैं।

(8) वाजपेय–वाजपेय का अर्थ है–भोजन या शक्तिवर्धक पेय। यह भी एक प्रकार का सोमयज्ञ है। इस यज्ञ को सम्पादित करने से भोजन, अन्न एवं शक्ति की उपलब्धि होती है। सामान्यतः सम्राट बनने की अभिलाषा रखने वाला राजा इस यज्ञ को सम्पादित करवाता था। इस सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण का कथन इस प्रकार है –

''राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति। सम्राड्वाजपेयेन्।''[2]

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण–14/3
2. शतपथ ब्राह्मण–5/1/1/13

इस यज्ञ में सत्रह संख्या की प्रमुखता रहती है। सभी आवश्यक वस्तुओं को सत्रह की संख्या में प्रयुक्त करते हैं।

(9) राजसूय यज्ञ–राजा को अपने राज्य की रक्षा के लिये अथवा अपनी प्रभावशाली स्थिति बनाने के लिये 'राजसूय यज्ञ' का सम्पादन करना पड़ता है। इस कृत्य के प्रारम्भ में 'अग्निष्टोम' एवं चातुर्मास्य यज्ञ को सम्पन्न करना होता है। राजसूय में 'अभिषेचनीय' कृत्य अत्यन्त उपयोगी होता है। इस कृत्य में सत्रह नदियों के जल के साथ सरस्वती नदी के जल से राजा को स्नान कराकर उसे शुद्ध किया जाता है। अन्ततोगत्त्वा पुरोहितों एवं ब्राह्मणों को दक्षिणा प्रदान की जाती है।

(10) अश्वमेध यज्ञ–अश्वमेध यज्ञ में पदासीन एवं अभिषिक्त राजा अपने यश–कीर्ति एवं प्रतिष्ठा के दूरवर्ती राज्यों में स्थापना के लिये प्रभावशाली सैन्यदल के साथ द्रुतगति से चलने वाले अलंकृत अश्व को पृथिवी पर भ्रमण के लिये छोड़ देता है। अश्व वर्ष–पर्यन्त (एक वर्ष तक) चारो दिशाओं में भ्रमण करता हुआ राजा के कीर्ति एवं विजय–ध्वज को प्रत्येक स्थानों पर प्रतिष्ठित करता है। अश्व जब सम्पूर्ण सैन्यदल के साथ राजा के पास सुरक्षित वापस आ जाता है, तब इसे राजा की विजय एवं उसके कीर्ति का विस्तार स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया के अन्तिम चरण में विशिष्ट यज्ञ का सम्पादन होता है।

(11) अग्निचयन–श्रौतयज्ञों में अग्निचयन अत्यन्त क्लिष्ट प्रक्रिया है, इसमें अग्नि–वेदिका को निर्मित करना एक जटिल कार्य है। इसकी परिगणना भी सोमयज्ञों में करते हैं। इस कृत्य में जगत् की संरचना से सम्बद्ध सिद्धान्त प्राप्त होता है। अग्निचयन में प्रारम्भिक पांच स्तरों का निर्माण –क्रम सोमयाग से ही सम्बद्ध है।

इस प्रकार हविर्याग एवं सोमयाग की परम्परा में आने वाले यज्ञ किसी एक देवता से सम्बद्ध नहीं होते हैं। श्रौतयज्ञों के अन्तर्गत प्रत्येक यज्ञ में अधिक से अधिक देवों को आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं, परन्तु प्रत्येक यज्ञ में किसी न किसी स्थिति में देव–विशेष की प्रधानता अवश्य रहती है।

गृह्यकर्मकाण्डों का सामान्य परिचय

गृह्यकर्मकाण्डों का सम्पादन गृहस्थ अग्नियों में ही किया जाता है। गृहस्थ अग्नियों के अन्तर्गत क्रमशः शालाग्नि, आवसथ्याग्नि एवं औपासनाग्नि का वर्णन प्राप्त होता है।

"आवसथ्याधानं दारकाले"।[1] सामान्यतः गृहस्थ अग्नि को स्थापित करने से सम्बद्ध क्रिया विधि–विधान से की जाती है। आवसथ्याग्नि एवं शालाग्नि या किसी भी गृहस्थाग्नि की स्थापना विवाह के समय ही करना चाहिये। सामान्यतः विवाह सम्पन्न होने के उपरांत गृहस्थ अग्नियों की स्थापना घर पर की जाती है। सभी प्रकार के गृह्यकर्मकाण्ड, पारिवारिक यज्ञ एवं पाकयज्ञ इन्हीं अग्नियों में सम्पन्न किये जाते हैं।

(1) पञ्चमहायज्ञ

इसमें साधारण गृहस्थों के द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले पाँच प्रकार के यज्ञ होते हैं।

(क) ब्रह्मयज्ञ–इस कृत्य में प्रातःकाल एवं संध्या के समय नित्य ईश्वरोपासना एवं वेदाध्ययन किया जाता है।

(ख) देवयज्ञ–जब अग्नि में किसी देव को साध्य स्वीकार करके समिधा के साथ आहुति दी जाती है, तो इसे 'देवयज्ञ' कहते हैं।

(ग) पितृयज्ञ–जब अपने पितरों या पूर्वजों को स्वधा के साथ आहुति प्रदान की जाती है, तो इसे 'पितृयज्ञ' कहते हैं। पितरों को जल समर्पित करना भी पितृयज्ञ स्वीकार किया जाता है।

---

1. पारस्कर गृह्यसूत्र–2/1

(घ) बलिवैश्वदेव यज्ञ--इस कृत्य में विभिन्न जीवों को भोजन का ग्रासपिण्ड प्रदान किया जाता है।

(ङ) अतिथि यज्ञ –इस कृत्य में ब्राह्मणों को भोजन प्रदान किया जाता है। अन्य वर्णो को भी भोजन प्रदान करने का विधान है।

(2) अप्रधान गृह्यकर्मकाण्ड

(1) पार्वण स्थालीपाक–इस कृत्य में नवविवाहिता भोज्य–पदार्थो को पकाती है एवं अग्निहोम के माध्यम से भोज्य–पदार्था देवताओं को समर्पित किया जाता है।

(2) चैत्री–यह कृत्य चैत्रपूर्णिमा पर किया जाता है। इसमें घर का अलंकरण करके पति–पत्नी विविध देवों को घृताहुति देते है। श्रीपति का पूजन एवं अन्न की स्तुति होती है, तदोपरांत ब्राह्मण–भोज एवं स्वयं भी भोजन ग्रहण करते है।

(3) सीता यज्ञ–इस यज्ञ का सम्पादन गृहस्थ अग्नि वाला व्यक्ति खेत जोतने के अवसर पर करता है।

(4) श्रावणी– यह कृत्य श्रावण मास की पूर्णिमा पर किया जाता है। इसमें सूर्यास्त होने पर स्थालीपाक का निर्माण करके एवं मृतपात्र पर रोटी पकाकर ऋग्वैदिक मंत्रों के साथ आहुतियॉ दी जाती है। इसे पति या पत्नी या दोनो कर सकते हैं। श्रावणी कर्म में सर्प से रक्षा होती है।

(5) नागबलि–सर्पभय से मुक्ति हेतु इस कृत्य का सम्पादन करते हैं।

(6) इन्द्रयज्ञ–इस कृत्य में इन्द्र के लिये पायस एवं रोटी की हवि दी जाती है। इसमें इन्द्र के प्रति समादर व्यक्त करते हैं।

(7) आश्वयुजी–इस कृत्य में आश्विन् मास की पूर्णिमा पर गृहस्थ अपने घर को सुसज्जित करके पशुपति देव को पक्वान्न समर्पित करते हैं।

(8) आग्रयण–इस कृत्य में नवोपजित अन्न सर्वप्रथम देवों को समर्पित किया जाता है।

(9) आग्रहायणी–इस कृत्य के अन्तर्गत मार्गशीर्ष की पूर्णमासी में घर को अलंकृत करके सायंकाल देवों को पायस की आहुति एवं इसके उपरांत ब्राह्मण–भोज होता है।

(10) शूलगव या ईशानबलि– इस कृत्य में शिव को बैल का माँस समर्पित करते हैं।

(11) वास्तु-प्रतिष्ठा–इस कृत्य के अन्तर्गत उपयुक्त भूमि पर वास्तु सिद्धान्त के अनुसार नवीन गृह का निर्माण करके उसमें विधि–विधान के साथ प्रवेश किया जाता है। गृह का निर्माण एवं भूमि का चयन एक सुनिश्चित विधि के अनुसार होता है।

(3) षोडश संस्कार का सामान्य परिचय

(1) गर्भाधान संस्कार –गर्भाधान संस्कार में पति, पत्नी के गर्भ में संस्कार के विधि–विधान के अनुसार शुक्र स्थापित करके स्त्री–गर्भ को प्रतिष्ठित करता है। गर्भाधान संस्कार अन्य संस्कारों का मूलश्रोत है।

(2) पुंसवन संस्कार–पुंसवन संस्कार में स्त्री के गर्भ में शिशु को पुष्पित एवं पल्लवित किया जाता है। इस संस्कार का विशेष कृत्य पुत्र प्राप्ति है, इसके निमित्त पति, पत्नी की नासिका में मंत्रों के साथ ओषधियों को डालता है।

(3) सीमन्तोन्नयन संस्कार–इस संस्कार में पत्नी के केशों को ऊपर उठाया जाता है अर्थात् यशस्वी, बलशाली एवं सुन्दर शिशु को जन्म देने के लिये पति, गर्भिणी पत्नी में आत्मविश्वास का संचार करता है।

(4) जातकर्म संस्कार—इस कृत्य में माता के गर्भ में रहने के कारण शिशु की अशुद्धि को दूर किया जाता है। जातकर्म संस्कार नाभिछेदन के पूर्व ही सम्पन्न किया जाता है, क्योंकि नाभिछेदन अपवित्र कर्म है, इसके उपरांत सूतक प्रारम्भ हो जाता है। अपवित्र स्थिति में पवित्र कर्म नहीं कर सकते हैं।

(5) नामकरण संस्कार—जातकर्म संस्कार के उपरांत शिशु का मंगलद्रव्य से स्नान एवं अलंकरण करके पुरोहितों के द्वारा उसके कर्ण में नाम का उच्चारण करते हुये शिशु का सुकर, सरल एवं प्रभावी नामकरण किया जाता है।

(6) निष्क्रमण संस्कार—एक सुनिश्चित तिथि एवं मुहूर्त में शिशु को सूर्य का दर्शन कराते हुये ईश्वर से शिशु के निमित्त मांगलिक मंत्रों के उच्चारण के साथ उसे गृह से बाहर ले जाते हैं।

(7) अन्नप्राशन संस्कार—शिशु के शरीर के सम्पूर्ण विकास के लिये उसको अन्नप्राशन संस्कार के माध्यम से पायस इत्यादि खिलाया जाता है। संस्कार के अवसर पर मांगलिक मंत्र एवं भोजन—मंत्र का भी उच्चारण होता है।

(8) चूड़ाकर्म संस्कार—शिशु के मस्तिष्क को सबल बनाने के लिये एवं उसके सिर एवं मस्तक—मण्डल की स्वच्छता के लिये चूड़ाकरण संस्कार किया जाता है। शिशु का चूड़ाकर्म मंत्रोच्चारण के साथ सावधानी पूर्वक होता है। शिशु के मुण्डित सिर पर एक केशगुच्छ रख देते हैं, इसे 'शिखा' कहते हैं।

(9) कर्णवेध—शिशु में सौन्दर्य—वृद्धि के लिये अत्यंत सावधानी पूर्वक मंत्रोच्चारण के साथ उसके कर्णो का छेदन करके, उसमें कुण्डल धारण कराया जाता है। सुश्रुत ने "इसे शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया है।[1]"

---

1. सुश्रुत शरीरस्थान–16/1, 19/21

(10) विद्यारम्भ संस्कार–इस कृत्य में शिशु को स्नानादि कराकर स्वच्छ वस्त्र धारण कराया जाता है। पुरोहित या कोई गुरू शिशु को रजत फलक पर पवित्र द्रव्यों से देवताओं का नामोल्लेख करके शाब्दिक ज्ञान प्रदान करता है।

(11) उपनयन–उपनयन का अर्थ है "गुरू के समीप रहकर गुह्यज्ञान प्राप्त करना"। इस कृत्य में बालक के सिर को मुण्डित करके, शिखा स्थापित की जाती है, बालक को यज्ञोपवीत, कौपीनवस्त्र एवं मेखला धारण कराया जाता है। बालक को दण्ड प्रदान करके सावित्री का दीक्षा पाठ भी गुरू के द्वारा सम्पन्न कराया जाता है। इन समस्त कृत्यों के माध्यम से बालक को ब्रह्मचर्य का पालन करने की प्रेरणा प्रदान की जाती है।

(12) वेदाध्ययन संस्कार–इस कृत्य में बालक गुरूकुल में रहकर ब्रह्मचर्य के नियम का पालन करता हुआ वेद–वेदाङ्गों के किसी एक भाग का अथवा सम्पूर्ण भागों का अध्ययन करता है। यह विद्यार्थी जीवन के सर्वांगीण विकास से सम्बद्ध संस्कार है।

(13) केशान्त या गोदान संस्कार–यह कृत्य चूड़ाकर्म के ही समान है। इस कृत्य में विद्यार्थी के ब्रह्मचर्य की पुनर्परीक्षा होती है। केशांत के उपरांत विद्यार्थी को एक वर्ष–पर्यन्त ब्रह्मचर्य के कठोर व्रत का पालन करना पड़ता है।

(14) समावर्तन संस्कार–जब विद्यार्थी वेदाध्ययन समाप्त कर लेता है, तब गुरूकुल से गृहस्थ जीवन में प्रस्थान करने के अवसर पर विद्यार्थियों का समादर किया जाता है। विद्यार्थी गुरू को यथासामर्थ्य दक्षिणा प्रदान करके उनसे आशीर्वाद प्राप्त करके गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता है।

(15) विवाह संस्कार—'विवाह संस्कार' के अन्तर्गत पुरूष का वैवाहिक विधि—विधान से कन्या के साथ परिणय सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इस संस्कार के उपरांत वास्तविक गृहस्थ जीवन प्रारम्भ होता है। पितृऋण से मुक्ति के लिये 'विवाह संस्कार' महत्त्वपूर्ण कृत्य है। ऐतरेय ब्राह्मण में 'विवाह संस्कार' का इसप्रकार वर्णन प्राप्त होता है—''इमौ वै लोकौ सहास्तां तौ वियन्तावभूतां विवाहं विवहावहै सह नावस्त्त्विति''।[1]

(16) अन्त्येष्टि संस्कार—वैदिक—सभ्यता एवं वर्तमान हिन्दू—सभ्यता के अनुसार किसी भी व्यक्ति के मृत्यु के पश्चात् उसके सद्गति के निमित्त अन्त्येष्टि के विधि—विधान के अनुसार उसका अन्तिम संस्कार किया जाता है।

वस्तुतः श्रौतकर्मकाण्डों का आयोजन साधारण गृहस्थ लोग नहीं कर सकते हैं, क्योंकि यह अत्यधिक जटिल प्रक्रिया है। इसमें विशिष्ट पुरोहितों एवं अत्यधिक धन की आवश्यकता पड़ती है। गृह्यकर्मकाण्डों का आयोजन साधारण गृहस्थ भी कर सकतें हैं, यथा 'पञ्चमहायज्ञ' जैसे 'गृह्यकृत्य में न तो पुरोहितों की आवश्यकता है और न ही धन—वैभव महत्त्वपूर्ण है। श्रौतयज्ञों का मुख्य उद्देश्य स्वर्ग, सम्पत्ति एवं पुत्रादि की प्राप्ति है, परन्तु गृह्यकर्मकाण्ड नैतिकता, मानवता एवं आध्यात्मिकता से परिपूर्ण हैं।

---

1. ताण्ड्य ब्राह्मण—7/10/1

प्रथम अध्याय
UNIVERSITY OF ALLAHABAD
QUOT RAMI TOT ARBORES

श्रौतकर्मकाण्ड

श्रौताग्नि में सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञ श्रौतकर्मकाण्ड कहे जाते हैं। श्रौताग्नि मुख्यतः तीन प्रकार की होती हैं–1–गार्हपत्याग्नि, 2–आहवनीयाग्नि, 3–दक्षिणाग्नि।

(1) गार्हपत्याग्नि–यह अग्नि हव्य पदार्थों के पाक क्रिया में प्रयुक्त की जाती है।

(2) आहवनीयाग्नि–यह सबसे महत्त्वपूर्ण अग्नि है, क्योंकि इसमें देवताओं को आहुति प्रदान की जाती है।

(3) दक्षिणाग्नि–इस अग्नि का प्रयोग पितृयज्ञादि विशिष्ट कर्म के लिये होता है।

उपर्युक्त तीन प्रचलित अग्नियों के अतिरिक्त एक 'सभ्य अग्नि' भी होती है, इसका प्रयोग विशिष्ट यज्ञ कर्म के लिये होता है।

सामान्यतः श्रौतयज्ञों को दो भागों में विभक्त किया जाता है–

1–हविर्याग, 2–सोमयाग।

(1) हविर्याग–इसमें दुग्ध, घृत एवं पुरोडाशादि की आहुति दी जाती है।

(2) सोमयाग–इसमें सोमलताओं का सवन करके, उसके रस से सोमाहुति दी जाती है।

श्रौतयाग का क्रमिक विवेचन प्रस्तुत शोध–ग्रन्थ में इस प्रकार है–

अग्निहोत्र, दर्श–पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध या निरूढ पशुबन्ध, सोमयाग, प्रवर्ग्य, ऐकादशिन पशुयाग, ज्योतिष्टोम, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध एवं अग्निचयन आदि।

श्रौतकर्मकाण्डों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन आधुनिक मनोविज्ञान के मूलाधार विषयों के आधार पर किया गया है। आधुनिक मनोविज्ञान के मुख्य विषय क्रमशः इस प्रकार हैं–

Mind (मन), Emotion (संवेग), Motivation (प्रेरणा), Sensation (संवेदना), Perception (प्रत्यक्षीकरण), Personality (व्यक्तित्त्व), Imagination - Thinking (कल्पना एवं चिंतन), Remembering (स्मरण), Forgetting (विस्मरण), Intelligence (बुद्धि), अनुभूति (Feeling) एवं Consciousness (चेतना) आदि।[1]

---

1. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश–निर्मला शेरजग।

अग्निहोत्र यज्ञ

'अग्निहोत्र' अग्नि को साध्य स्वीकार करके प्रातः एवं सायंकाल सम्पादित किया जाने वाला एक विशिष्ट यज्ञ कर्म है। इसमें दुग्धादि अनेक द्रव्यों का विधान किया जाता है। इन सब में पय को प्रधानता दी जाती है। यावागू, तण्डुल, दधि, घृत इत्यादि काम्यद्रव्य के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। इस यज्ञ कर्म में सायंकाल अग्नि मुख्य देवता है और प्रजापति स्विष्टकृत स्थान का अंग देवता है। प्रातःकाल सूर्य को ही अग्निस्वरूप स्वीकार करके मुख्य देवता मान लिया जाता है एवं प्रजापति अंग देवता होता है। वस्तुतः अग्नि साध्य कर्म होने के कारण इसे 'अग्निहोत्र' कहा जाता है।

इस यज्ञ में हवन का समुचित समय प्रातःकाल सूर्योदय के ठीकपूर्व अथवा पश्चात् में होता है एवं सायंकाल सूर्यास्त के पश्चात् अथवा प्रथम नक्षत्र परिलक्षित होने के उपरांत होता है।

"सूर्योह वाऽअग्निहोत्रं",[1] अर्थात् सूर्य ही अग्निहोत्र है, क्योंकि वह आहुति के पूर्व उत्पन्न हुआ, इसलिये अग्निहोत्र है। जब सूर्यास्त हो जाता है तो वह अग्नि में गर्भ रूप में प्रविष्ट हो जाता है। वस्तुतः रात्रि सूर्य को उसी प्रकार आवृत कर देती है, जैसे गर्भ आवृत रहता है। अग्निहोत्र करने वाले के घर सभी देवता सायंकाल पहुंच जाते हैं। ऋत्विक् सूर्यास्त के उपरांत आहुति देता है, क्योंकि आहुति घर पर प्रविष्ट हुये देवताओं को प्राप्त होती है। सूर्योदय के पूर्व आहुति देने का भी यही प्रयोजन है कि देवों के प्रस्थान करने के पूर्व ही आहुति प्रदान करना अत्यावश्क है। वस्तुतः अन्य सभी यज्ञ समाप्त होते है, परन्तु 'अग्निहोत्र' समाप्त नहीं होता है। इस यज्ञ में ऋत्विक् प्रातःकाल आहुति देकर चिंतन करता है, सायंकाल दूंगा, सायंकाल देकर जानता है, प्रातःकाल आहुति दूंगा। अग्निहोत्र अनन्त है, इससे अनन्त सन्तानें एवं वैभव प्राप्त होता

---

1. शतपथ ब्राह्मण–3/1/1

है। अग्निहोत्र कर्म में ऋत्विक् दुग्ध को दुह कर गार्हपत्याग्नि में पकाने के लिये रखता है। दुग्ध को अग्नि पर चढ़ाकार ही आहुति देता है, क्योंकि दुग्ध अग्नि का वीर्य है। दुग्ध के पकने पर एक तिनका जलाकर देखना चाहियें कि दुग्ध पका है या नहीं। अब दुग्ध के पक जाने पर उसमें रसवृद्धि के लिये जल छिड़कता है। दुग्ध को चार चमचों से निकालता है, क्योंकि दुग्ध चार थनों से प्राप्त हुआ था। ऋत्विक् समिद्ध होम के लिये समिधा उठाता है और चमसों को नीचे रखने के पूर्व आहुति देता है एवं नीचे रखने के उपरांत एक अन्य आहुति देता है। ये दो आहुतियाँ मन एवं वाणी हैं, इस प्रकार मन एवं वाणी को एक दूसरे से दूर करता है—सायंकाल की आहुति इस मंत्र से दी जाती है—

"अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा"[1] एवं प्रातःकाल की आहुति के समय इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है—

"सूर्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा"[2]। इन दोनो आहुतियों में विविधता के पीछे यही सत्य निहित है कि जब सूर्यास्त हो जाता है तो अग्नि ही ज्योतिरूप है एवं जब सूर्योदय हो जाता है, तो सूर्य ही ज्योति रूप रहता है। सामान्यतः जो व्यक्ति इस सत्यता का पालन करता हुआ प्रातः एवं सायंकाल अग्नि को आहुति देता है, वह देवों को प्राप्त कर लेता है।

'ब्रह्मवर्चस्' की कामना के लिये तक्षा ने आरूढ़ि के प्रति ऐसा कहा था—

"अग्निर्वचो ज्योतिर्वचः सूर्योवचो ज्योतिर्वचः।[3] इस प्रकार जो भी पुरूष इस यज्ञ को करता है वह 'ब्रह्मवर्चस्' की प्राप्ति करता है।

ऋत्विक् सायंकाल अग्निहोत्र कर्म में इस मंत्र "सजूर्देवेनसविता"[4] से एवं रात्रि काल में "सजूरात्र्येन्द्रवत्या"[4] मंत्र से आहुति देकर यज्ञ को इन्द्र से संयुक्त करता है। वस्तुतः इन्द्र ही यज्ञ का देवता है।[5]

---

1. यजु0 3/9
2. यजु0 3/9
3. यजु0 3/9
4. यजु0 3/10
5. 'इन्द्रो ही यज्ञस्य देवता', शतपथ ब्राह्मण—अग्निहोत्र प्रकरण, 3/1

अग्निहोत्र कृत्य में जब ऋत्विक् प्रत्यक्ष रूप में सूर्य को आहुति प्रदान करने की इच्छा करें, तब "जुषाणः सूर्योवेतु स्वाहा"[1] मंत्र का उच्चारण करके सूर्य को प्रत्यक्षतः आहुति प्रदान करता है।

सामान्यतः अग्निहोत्र यज्ञ की प्रधान आहुति के अन्तर्गत यज्ञीय पात्र में गो–दुग्ध का दोहन करके, गार्हपत्य अग्नि में उस दुग्ध को विधिवत् उष्ण करते हैं। अब उष्ण दुग्ध में कुछ मात्रा में जल मिश्रित करके मंत्रोच्चारण के साथ सर्वप्रथम आहवनीय एवं गार्हपत्य अग्नि में समर्पित कर देते हैं। यजमान अग्नि में दुग्धार्पण के उपरांत भोजन ग्रहण करता है। भोजनोपरांत यजमान देवताओं, पूर्वजों, सप्तऋषियों एवं पृथिवी पर विद्यमान अग्नि के निमित्त क्रमशः चार आहुतियाँ समर्पित करता है।

इस कृत्य के अग्रिम क्रम में विविध प्रकार की अग्नियों एवं अग्निहोत्र यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले मुख्य विषयों के प्रति श्रद्धा–समर्पण एवं समादर–भाव प्रकट किया जाता है। सर्वप्रथम पवित्र आहवनीयाग्नि के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं। द्वितीय क्रम में गौ का, तृतीय क्रम में गार्हपत्याग्नि का एवं चतर्थ क्रम में गौ के बछड़े के प्रति श्रद्धा–समर्पण प्रदर्शित करते है। यज्ञ के समापन में यजमान अपने ज्येष्ठ पुत्र या प्रिय पुत्र को यज्ञ कार्य के संवर्द्धन के निमित्त उत्तराधिकारी नियुक्त करता है। अग्निहोत्र यज्ञ जीवन का अभिन्न अंग है। यजमान के परिव्राजक होने के स्थिति में ही 'अग्निहोत्र' का परित्याग किया जा सकता है।

वस्तुतः अग्निहोत्र यज्ञ सम्पादित करने के पीछे मानव–कल्याण की ही भावनायें अन्तर्निहित हैं। जब सामान्य मनुष्य अग्निहोत्र कर्म करता है तो वह प्रजारूप में स्वयं को उत्पन्न करता है। प्रजापति के समान मनुष्य भक्ष्याग्नि से अपनी प्रतिरक्षा करता है। जब मनुष्य की मृत्यु होती है, तो उसे अग्नि में रखते

---

1. यजु0–3/10

हैं, तभी वह अग्नि से पुनः उत्पन्न होता है, यथा–अपने माता–पिता से निःसृत होता है, उसी प्रकार अग्नि से उत्पन्न होता है। अस्तु वैदिक विद्वत्गण इसी संकल्प–शक्ति से प्रेरित होकर अग्निहोत्र कर्म सम्पादित करते है, जिससे मानव जीवन अर्थात् सामाजिक जीवन की श्रृंखला अवरूद्ध न हो। जो मनुष्य अग्निहोत्र नही करता है, वह कष्टपीड़ित रहता है एवं उसकी उत्पत्ति नहीं होती है।

अग्निहोत्र कर्म सम्पादित करने के पीछे दूसरा भाव यह भी है कि अग्नि ही ऊर्जा का केन्द्र है, जिससे सम्पूर्ण मानव जगत् को ऊर्जा प्राप्त होती है। अग्नि देव स्वरूप है; अतएव अग्निहोत्र कर्म के माध्यम से अग्नि के साथ–साथ अन्य देवताओं का भी समादर किया जाता है। अग्निहोत्रकर्म अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, इसका उल्लंघन करने पर प्रत्यवाय उत्पन्न होता है और जन्म व्यर्थ हो जाता है। 'दर्शपूर्णमास' इत्यादि यज्ञों का अनुष्ठान न होने पर कोई क्षति नही होती है, परन्तु अग्निहोत्र तो मनुष्य को विषम संकट में होने पर भी करना चाहियें। वस्तुतः अग्निहोत्र अनन्त है, इसे सम्पादित करने से अनन्त सन्तान एवं वैभव की सम्प्राप्ति होती है।

अग्निहोत्र यज्ञ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

श्रौतयज्ञों से सम्बद्ध अग्निहोत्र यज्ञ, अग्नि को साध्य स्वीकार करके सम्पादित किया जाने वाला एक अत्यन्त प्राचीन एवं अनिवार्य याज्ञिक कृत्य है। सम्पूर्ण अग्निहोत्र कर्म का प्राथमिक मनोविश्लेषण करने से यह ज्ञात होता है कि यजमान अग्नि के प्रकोप रूपी भय से स्वयं एवं अपनी संतानों की रक्षा हेतु अग्निहोत्र कर्म सम्पादित करता है। वस्तुतः मनोविज्ञान भी भय (Fear)[1] को मनुष्य की स्वाभाविक मूलप्रवृत्ति के रूप में स्वीकार करता है और भय से मनुष्य अपने जीवन में बहुत से रचनात्मक कार्यों को सम्पन्न करता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है कि भय से मनुष्य में संवेगात्मक व्यवहार उत्पन्न होते है, इसी संवेगात्मक व्यवहार से क्रियात्मक शक्ति बढ़ जाती है। प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक–पी०टी० यंग ने संवेग को इस प्रकार परिभाषित किया है–

"An acute disturbance of the individual as a whole psychological in origin, involving behaviour, conscious experience & Visceral functioning".[2]

वस्तुतः अग्निहोत्र यज्ञ के सम्पादन में प्रेरणा (Motivation) का भाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

आधुनिक मनोविज्ञान भी प्रेरणा (Motivation) को इस प्रकार परिभाषित करता है– **"A Motive is any particular internal factor or condition that to initiate and to sustain activity."**[3]

इस यज्ञ को सम्पादित करने के लिये यजमान का अभीष्ट–लक्ष्य संतान एवं प्रजा का अनवरूद्ध गति से चलना है। इसी अभीष्ट लक्ष्य से प्रेरित होकर

---

1 मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोष–निर्मलाशेरजग
2. P.T. Young-Emotion in Man and aniaml 1943, p-60
3. J.P. Guilford, General Psychology-1956, p-91

यजमान अग्निहोत्र यज्ञ सम्पादित करता है। मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है कि प्रेरक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसके फलस्वरूप यजमान लक्ष्य के प्रति प्रेरित होता है। इस याज्ञिक कृत्य में प्रातःकाल यजमान अग्नि स्वरूप सूर्य को "सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा"[1] मंत्र की धारणा–शक्ति के आधार पर आहुति प्रदान करता है एवं रात्रिकाल में अग्नि को सूर्य का ही प्रतीक स्वीकार करके "अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा"[2] मंत्र की धारणा–शक्ति के आधार पर अग्नि को आहुति प्रदान करता है। धारणा (Retaintion) के विषय में योगदर्शन में भी विचार प्राप्त होता है, जिससे आधुनिक मनोविज्ञान में विभिन्न विषयों का प्रवेश हो गया है–"किसी देश–विदेश में चित्त के स्थिरीकरण को 'धारणा' **(Retaintion)** कहते है।[3] इस प्रकार आहुति प्रदान करने के अवसर पर मंत्र शक्ति से ही ऋत्विक् की चित्तवृत्ति केन्द्रस्थ होती है। 'अग्निहोत्र' वैदिकों के प्रमुख कृत्य के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। इसे ऋत्विक् को अवश्य करना चाहियें, क्योंकि इस कृत्य को सम्पादित करने से ऋत्विक् को आत्मिक–शांति एवं प्रसन्नता की अनुभूति होती है।

इस कृत्य का प्रत्यक्षीकरण (Perception) हमारे वैदिक ऋषियों ने स्वयं किया। वस्तुतः प्रजापति के द्वारा अग्निहोत्र नामक कृत्य पूर्व में ही सम्पादित किया गया, इससे ऋषियों में अग्निहोत्र की संवेदना हुयी एवं जब इसको प्रायोगिक रूप में संचालित किया ,तब उन्हे 'प्रत्यक्षीकरण' (Perception) हुआ। संवेदना एवं प्रत्यक्षीकरण को मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है– **"Perception is the process of getting to know of objects and objective facts by use of the Senses."** [4]

इस प्रकार 'अग्निहोत्र यज्ञ' में विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक विषयों का समावेश प्राप्त होता है।

---

1. यजुर्वेद–3/9
2. यजुर्वेद–3/9
3. भारतीय दर्शन–डा० नन्दकिशोर देवराज–पृ०सं०–425
4. Woodworth and Marquish, Psychology, 1955,P.402.

दर्श–पूर्णमास यज्ञ

दर्श तथा पूर्णमास संज्ञा वाले दो यज्ञ क्रमशः अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिवस पर सम्पादित किये जाते हैं। सामान्यतः यह कृत्य अभीष्ट फल के उद्देश्य से सम्पन्न किया जाता है।

पौर्णमास में सम्पादित किये जाने वाले यज्ञ में अग्नि के लिये अष्टकपाल पुरोडाशयाग, अग्नि एवं सोम के लिये आज्यद्रव्यक उपांशुयाग तथा अग्नि एवं सोम के लिए एकादश कपाल पुरोडाशयाग सम्मिलित किये जाते हैं।

दर्श अर्थात् अमावस्या में सम्पादित किये जाने वाले यज्ञ में अग्निप्रीत्यर्थक पुरोडाशयाग, इन्दप्रीत्यर्थक पुरोडाश (दधिद्रव्यक) याग एवं इन्द्रप्रीत्यर्थक पयोद्रव्यकयाग सम्मिलित किये जाते हैं।

इस प्रकार दर्श तथा पूर्णमास के तीन–तीन यज्ञों का समूह दो समुदाय में विभक्त होकर, द्विवचनान्त रूप में दर्शपूर्णमासौ की संज्ञा से प्रचलित है।

दर्शपूर्णमास यज्ञ को सम्पादित करने वाला व्यक्ति सर्वप्रथम आहवनीय एवं गार्हपत्य अग्नि के मध्य खड़ा होकर जल का स्पर्श करता है। यजमान आहवनीय अग्नि को साक्षी स्वीकार करके व्रत का प्रारम्भ करने के निमित्त इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि[1]।

यजमान जब यज्ञ कार्य सम्पादित कर लेता है या इष्टि की समाप्ति होने पर इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषम्[2]।

---

1. यजुर्वेद–1/5
2. यजुर्वेद–2/28

दर्शपूर्णमास यज्ञ में उन्हीं पदार्थों का उपभोग किया जाता है, जिन्हें हविष्यान्न के रूप में प्रयुक्त नही करते हैं। अतएव ऐसे वनोपजात भोज्य–पदार्थो को ग्रहण करना चाहिये, जिनकी हवि नहीं दी जाती है। व्रत के समय भूमि पर ही शयन करने का विधान है, क्योंकि देवों को उच्च स्थान दिया जाता है। रात्रि में अग्नियों के समीप ही शयन का विधान है। पात्र में अल्पमात्रा में जल लेकर गार्हपत्य अग्नि के उत्तर में रखे दे। अग्नियों के चारो ओर तृण बिछाये, दस यज्ञीय पात्रों को दो–दो करके ले जाये, यथा–सूप एवं अग्निहोत्र–हवणी, स्फया एवं कपाल, शमी एवं कृष्णमृगचर्म, ऊखल एवं मुसली एवं दो बड़े–छोटे पत्थर (सील एवं लोढ़ा) को प्रयोग में लाते हैं।

अब ऋत्विक् सूप एवं अग्निहोत्र–हवणी को लेता हुआ इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है।–

'कर्मणे वां वेषाय वामिति यज्ञो वै कर्म यज्ञाय'।[1] .

अर्थात् कर्म के लिए, अर्थात् यज्ञ के व्यापकत्त्व के लिए ग्रहण करता हूँ। अब दो पवित्रे बनाता हुआ इस मंत्र का उच्चारण करता है–

"पवित्रे स्थो वैष्णव्याविति यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञिये"।[2]

अर्थात् दोनो पवित्रों को विष्णु के पवित्रे के रूप में स्वीकार करता है। इन पवित्रों से यज्ञ के पात्रों को इस मंत्रोच्चारण से पवित्र करता है–

"दैव्याय कर्म्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायाऽइति"।[3]

इस प्रकार दिव्य कार्य के लिए पात्रों का पवित्र करता है। अब यज्ञ की पूर्णता के लिए काले मृग चर्म को लेता है, क्योंकि हविर्धान्य को कूटने एवं फटकने का कार्य इसी पर किया जाता है। बांये हाथ में चर्म एवं दक्षिण हस्त में

1. शुक्लयजुर्वेद–1/6
2. शुक्लयजुर्वेद–1/12
3. शुक्लयजुर्वेद–1/13

ऊखली को पकड़ता है, ऊखली को उस पर रख देता है ताकि चमड़े एवं ऊखली में सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर दोनो एक–दूसरे को कष्ट न पहुँचाये। इस प्रकार देवों के लिए हवि निर्माण हेतु मुसली को ऊखली में डाल देता है। अब अध्वर्यु पत्थरों को पीटता है फिर पीटे हुए चावल को सूप में डालते हुये मंत्रोच्चारण करता है–"प्रतित्ववर्षवृद्धं वेत्तिवति वर्ष वृद्धा"[1]

"अर्थात् वर्षा में बढ़ा हुआ जौ तुझे प्राप्त हो"। तदोपरांत सूप से फटकर कर राक्षस रूपी भूसी को झाड़ देता है। अध्वर्यु कपालों को गार्हपत्याग्नि पर रखता है। दोनो सिलों को मृगचर्म पर रखता है। वेदी निर्माण के लिए स्फ्या को ग्रहण करता है। इस प्रकार इन दस पात्रों को यज्ञ में प्रयुक्त किया जाता है।

दर्शपूर्णमास के अन्तर्गत दर्श को दो दिवसों में सम्पादित किया जाता है एवं पौर्णमास को एक ही दिवस पर सम्पन्न करते हैं। यज्ञ के प्रथम दिवस में याज्ञिक व्यवस्था को सुदृढ़ किया जाता है। याज्ञिक व्यवस्था के अन्तर्गत यजमान सर्वप्रथम प्रतिज्ञा या संकल्प करता है–संकल्प में भूमि–शयन, श्मश्रु एवं केशच्छेदन तथा मांसादि का परित्याग किया जाता है। अब गोदुग्ध के दोहन के समय गाय से उसके बछड़े को पृथक् करने के लिए पलाश या शमी वृक्ष की सुकोमल टहनियों की व्यवस्था की जाती है। यज्ञ सम्पादन के द्वितीय दिवस में हविष्यान्न की व्यवस्था, पूप निर्माण, वेदी निर्माण से सम्बद्ध कृत्य किये जाते हैं। अब "पत्नीसन्नहन" अर्थात् यजमान पत्नी को मेखला धारण कराने से सम्बद्ध कृत्य होता है। पत्नीसन्नहन के उपरांत घृत–पात्र में मुख–दर्शन का कृत्य किया जाता है। अब "बर्हिरास्तरण" के अन्तर्गत अध्वर्यु वेदी पर कुश विछाता है तथा उसके ऊपर बर्हि रख देता है। इसके उपरांत अध्वर्यु ,होता के निमित्त आसन निर्मित करता है। अब यज्ञ के वास्तविक कृत्य के अन्तर्गत सामधेनी मंत्रों का

---

1. शुक्लयजुर्वेद–1/6

उच्चाराण किया जाता है। दर्शपूर्णमास में पन्द्रह सामधेनी मंत्रों का उच्चारण ऋग्वेद की 3/27/1 की ऋचा से 5/28/6 की "आ जुहोति" ऋचा तक किया जाता है। इन मंत्रों का एक ही स्वर में उच्चारण किये जाने से इन्हें 'एकश्रुति' भी कहा जाता है। सामधेनी मंत्र के प्रत्येक पद्य के अन्त में होता के द्वारा ओम् का उच्चारण करने पर अध्वर्यु आहवनीय अग्नि में एक-एक करके कुल ग्यारह समिधायें डालता है। इसी प्रकर कुछ भिन्न पद्धति से अन्य समिधायें भी अग्नि में समर्पित करते हैं। अब होता, प्रवर ऋषियों का आह्वान तथा अग्नि की स्तुति करता है। अब पुरोहितों के निर्देशानुसार यजमान विभिन्न देवताओं का आह्वान करके बैठ जाता है। इसके उपरांत होतृवरण एवं प्रयाज आहुतियाँ होती है। अग्नि तथा सोम के लिये आज्याहुति समर्पित करते हैं। अब अग्नि को एक पूप समर्पित किया जाता है तथा अग्नि एवं सोम को घृत की एक आहुति प्रदान की जाती है। इसी क्रम में अग्नि एवं सोम के निमित्त पौर्णमास आहुति तथा अग्नि एवं इन्द्र के लिए दुग्धान्न की आहुति मंत्रोच्चारण के साथ दर्श पर समर्पित की जाती है। अन्त में सभी देवों के आह्वान के साथ एक आहुति स्विष्टकृत अग्नि के निमित्त प्रदान की जाती है। अब पुरोहितगण चरू का प्राशन करके यजमान को संस्पर्श करते हुये इड़ा का आह्वान करते हैं। अब सभी पुरोहितगण एवं यजमान इड़ापात्र से इड़ा ग्रहण करते हैं। इस कृत्य में यजमान अपने पूर्वजों को भी इड़ा ग्रहण करने के निमित्त उनका आह्वान करता है। अब दक्षिणाग्नि पर आवश्यकतानुसार ओदन निर्मित करते है, इस कृत्य को 'अन्वाहार्य' करते है। यजमान सभी पुरोहितों से अन्वाहार्य ग्रहण करने के निमित्त प्रार्थना करता है। इसके उपरांत यजमान सभी पुरोहितों के सम्मान में 'सप्तहोतृ' का जप करता है। इसके उपरांत अवशिष्ट कुश-मुष्टि को अग्नि में समर्पित कर देते हैं। इसी क्रम में प्रार्थना के साथ चारों ओर व्यवस्थित की गयी समिधाओं को भी अग्नि में समर्पित कर देते हैं। यज्ञ के निमित्त शेषांश विश्वेदेवों को समर्पित करते हैं। इसके उपरांत पत्नीसंयाज से सम्बद्ध चार

आहुतियाँ दी जाती है एवं यज्ञ से सम्बद्ध कुछ अन्य आनुषंगिक कृत्य सम्पन्न किये जाते हैं। दर्शपूर्णमास यज्ञ के सम्पादित होने के उपरांत होता, यजमान–पत्नी की मेखला को खोलते हुये इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

प्र त्वा मुञ्चामि वरूणस्य पाशाद्येन त्वाबध्नात्सविता सुशेवः।

ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकोऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि।।[1]

इस कृत्य के पूर्णतः सम्पन्न होने पर यजमान स्त्री स्वरूप वाली यज्ञ भूमि के दक्षिणी किनारे से पूर्व दिशा में विष्णु के समान पराक्रमशील होकर तीन पग चलता है। इसके उपरांत यजमान आहवनीय एवं गार्हपत्य अग्नि के प्रति समादर भाव प्रकट करता हुआ अपने व्रत को समाप्त करने के निमित्त इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

"अग्ने व्रतपते व्रतमचारिष्"।[2]

इस यज्ञ को सम्पादित करने के पीछे मूलतत्त्व व्यक्ति को अपना भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नयन करना है। दर्शपूर्णमास यज्ञ व्यक्ति को आजीवन या तीस वर्ष अथवा 15 वर्ष तक करना होता है, जिससे वह जन्म–जन्मान्तर के पाप को नष्ट करके श्रेय मार्ग के लक्ष्य को प्राप्त करता है। यह यज्ञ मनुष्य को सभी प्रकार के अभीष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति करवाता है एवं विष्णु के समान पराक्रम प्रदान करता है, जिससे मनुष्य न केवल भौतिक साम्राज्य को प्राप्त करता है, प्रत्युत् आध्यात्मिक चरमोत्कर्ष पर भी पहुँचता है।

---

1. ऋग्वेद–10/85/24
2. शुक्लयजुर्वेद–2/28

दर्श–पूर्णमास यज्ञ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

श्रौतयज्ञों से सम्बद्ध दर्शपूर्णमास यज्ञ के सम्पादन में मानसिक तत्त्व (मनोवैज्ञानिक चिंतन) स्वतः प्रदर्शित होता है। यह कृत्य अभीष्ट लक्ष्य को समक्ष रखकर किया जाता है, जिसके कारण यज्ञकर्त्ता (यजमान) में यज्ञ के प्रति दृढता एवं एकाग्रता की प्रवृत्ति विकसित होती है। वस्तुतः दृढ़ता एवं एकाग्रता की मानसिक स्थिति में रहकर ही यज्ञकर्त्ता अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इस याज्ञिक कृत्य में पुरोहित, यजमान से इस मंत्र का उच्चारण करके संकल्प करवाता है, – "अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि।" वस्तुतः संकल्प–शक्ति के बिना कोई भी कार्य विवेकशून्य हो जाता है। उपर्युक्त मंत्र से संकल्प ले लेने का तात्पर्य यह हो जाता है कि यज्ञकर्त्ता सम्पूर्ण याज्ञिक कृत्य के समापन तक दृढ़ता एवं एकाग्रता पूर्वक कार्य करता रहेगा। इस याज्ञिक कृत्य में उन पदार्थों की हवि नही दी जाती है, जिन्हें यज्ञ–कृत्य के समय भोज्य रूप में ग्रहण किया जाता है। वस्तुतः यज्ञ श्रद्धा एवं शुद्धता का विषय है, यदि इन दोनो तत्वों का अभाव हो जाता है, तो यजमान का चंचल मन इधर–उधर भ्रमित होने लगता है। अतः मन के स्थिरीकरण के लिये उन्हीं वस्तुओं को भोज्य रूप में ग्रहण करते हैं, जिनकी हवि नही दी जाती है। इस याज्ञिक कृत्य में भूमि पर शयन करने से सद्वृत्ति उत्पन्न होती है। ब्रह्मचर्य का पालन करने से यजमान के अन्दर दृढ़ता एवं एकाग्रता की मानसिक शक्ति अत्यधिक प्रबल होती है। यह मानसिक शक्ति उसको लक्ष्य (अभीष्ट) की प्राप्ति में सहायता प्रदान करती है। आधुनिक मनोविज्ञान भी मानसिक एकाग्रता (Mental Concentration) एवं मानसिक दृढ़ता (Mental Determination) को स्वीकार करता है।[1]

पौर्णमास यज्ञ के सम्पादन में दुग्धान्न का प्रयोग किया जाता है। इसके लिये जब गायों को दुहते हैं तो उनके बछड़ो को उनसे अलग करने के लिए

---

1. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश, निर्मला शेरजंग

पलाश या शमी की ढंठल का प्रयोग किया जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि यज्ञकर्त्ताओं के मन में दया, करूणा, स्नेह एवं ममत्त्व के रूप में मानसिक प्रत्यय रहते थें, क्योंकि गाय के बछड़ों का शरीर अत्यन्त कोमल होता है। इसलिये उन्हें दुग्ध–दोहन करने के समय कोमल एवं चोट न पहुँचाने वाले डंठल का प्रयोग किया जाता था। सामान्य जन–जीवन में भी नैतिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुये यदि किसी के प्रति स्नेह, प्रेम एवं समादर की भावना प्रकट करते है तो वह व्यक्ति समादर करने वाले के प्रति अन्तर्द्रवित होकर उसे कुछ भी प्रदान करने को तत्पर हो जाता है। इसी क्रम में उपर्युक्त मानसिक प्रत्ययों को ध्यान में रखकर यज्ञकर्त्ता देवताओं को यज्ञ में निमन्त्रण देने के लिये भूमिका बनाता था, जिससे देवगण उस व्यक्ति (यजमान) के प्रति अपनी दयादृष्टि एवं आशीर्वादमय स्नेह प्रदान करें।

दर्शपूर्णमास यज्ञ करने से यजमान के जन्म–जन्मान्तर के सभी पापकर्म नष्ट हो जाते है एवं व्यक्ति विष्णु के समान पराक्रम को प्राप्त करता है। वस्तुतः इस यज्ञ का प्रतिफल या अभीष्ट यजमान के लिये उद्दीपक का कार्य करता है, जिससे यजमान प्रेरित होकर सम्पूर्ण याज्ञिक कृत्य अर्थात् दर्शपूर्णमास नामक यज्ञ का सम्पादन करता है।

आधुनिक मनोविज्ञान से तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि दर्शपूर्णमास का अभीष्ट लक्ष्य व्यक्ति के अन्तः में तीव्र प्रेरक के रूप में स्थान बना लेता है, फलतः वह व्यक्ति उस प्रेरक से प्रेरित होकर लक्ष्य प्राप्ति की अंतिम स्थिति तक क्रियाशील रहता है। आधुनिक मनोविज्ञान प्रेरणा को इस प्रकार परिभाषित करता है–**"The terms motivation and motive refer to activation from with in the organism. Thus motivated behaviour is internally activated or atleast modified by internal conditions. A motive therefore, is some internal activator or modifier."**[1]

इस प्रकार दर्शपूर्णमास यज्ञ मनोवैज्ञानिकता से परिपूर्ण है।

1. N.L. Munn, Psychology, p. 137.

चातुर्मास्य यज्ञ

प्रत्येक चतुर्थ मास पर सम्पन्न किया जाने वाला तीन यज्ञों का समूह 'चातुर्मास्य यज्ञ' के रूप में प्रचलित है। इसे ऋतु सम्बन्धी यज्ञ भी कहते हैं, क्योंकि इसमें तीनों यज्ञ तीन अलग–अलग ऋतुओं पर किये जाते हैं। चातुर्मास्य में सम्पन्न किये जाने वाले तीनों यज्ञ क्रमशः वैश्वदेव, वरूणप्रधास एवं साकमेध यज्ञ हैं।

(1) 'वैश्वदेव यज्ञ' का सम्बन्ध वसन्त ऋतु से है।

(2) 'वरूणप्रधास' का सम्बन्ध वर्षा ऋतु से है

(3) 'साकमेध' का सम्बन्ध हेमन्त ऋतु से है।

(1) वैश्वदेव यज्ञ

आश्वलायन के कथनानुसार फाल्गुन की पूर्णिमा के एक दिन पूर्व चातुर्मास्य के लिये वैश्वानर अग्नि एवं पर्जन्य के लिये एक इष्टि करना चाहियें।[1]

कात्यायन के टीका के अनुसार "वैश्वदेव इष्टि पूर्णिमा के एक दिन उपरांत प्रातःकाल की जाती है और तभी फाल्गुन की पूर्णमास–इष्टि की विधि–उचित मानी जाती है।"[2]

वैश्वदेव यज्ञ में सप्तकपालों में मरूतों के लिये पुरोडाश होता है। सप्त कपाल इसलिये होते है, क्योंकि मरूत्गण भी सात ही है। सर्वप्रथम मरूतों के लिये आहुति दी जाती है। अब पयस्या एवं मट्ठा का योग करके आहुति दी जाती है, यथ–पयस्या स्त्री एवं मट्ठा वीर्य है। इसी योग के फलस्वरूप सम्पूर्ण विश्व प्रादुर्भूत हुआ है। इस आहुति को वैश्वदेव अर्थात् सब देवों की आहुति कहते हैं।

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास पी० वी० काणे–भाग–1–पृ०–535
2. कात्यायन–(5/1)

ऋत्विक् अब एक कपाल पर द्यावा–पृथ्वी की आहुति देता है। वस्तुतः जो कुछ प्रजापति ने उत्पन्न किया उसे द्यावा–पृथ्वी के मध्य स्थापित कर दिया। यदि कोई इन आहुतियों को देता है, तो वह प्रजा को उत्पन्न करके द्यावा–पृथ्वी के मध्य स्थापित कर देता है, अतएव द्यावा–पृथ्वी का भी एक कपाल होता है।

उपर्युक्त आहुतियों में प्रथम एवं अंतिम आहुति पुरोडाश की एवं द्वितीय आहुति दुग्धान्न की दी जाती है। वैश्वदेव यज्ञ के अन्तर्गत प्रत्येक स्थिति में अग्नि, सोम, सवितृ, सरस्वती एवं पूषन् के लिये भी पांच आहुतियॉ होती हैं। चातुर्मास्य के अन्तर्गत 'वैश्वदेव' ऋतु सम्बन्धित यज्ञ है। ऋतु का सम्बन्ध ऐसे ऋतु सम्बद्ध वृक्षों से रहता है, जिसमें उसी काल के वृक्ष की पूर्ण पल्लवित एवं पुष्पित वृक्षांश को समिधाओं के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। यज्ञ कृत्य में संस्तरण भी नवीन एवं उत्पन्न होते पौध से निर्मित करते हैं।

इस प्रकार वैश्वदेव यज्ञ को सम्पादित करने वाला प्राणी प्रजायुक्त एवं धन–धान्य से समृद्ध होता है।

(2) वरूणप्रधास यज्ञ

वरूणप्रधास यज्ञ में दो वेदियाँ एवं दो अग्नियाँ होती हैं। उत्तर के दिशा में वेदी निर्मित करते हैं। वेदी को दक्षिण दिशा में इसलिये नही बनाते क्योंकि यह मरूत्गण का स्थान है, मरूत् वैश्य एवं वरूण क्षत्रिय है, इसीलिये वरूण–प्रधास में वरूण को प्रधानता दी जाती है। पूर्व में पाँच हवियॉ होती हैं, क्योंकि पाँच हवियों द्वारा ही प्रजापति ने वरूण से प्रजा की रक्षा की थीं। अब इन्द्र के लिये बारह कपालों में पुरोडाश दिया जाता है। वस्तुतः इन्द्राग्नि प्राण एवं उदान है। दोनो अग्नियों में पयस्या की आहुति देते हैं, उत्तर की हवि वरूण के लिये एवं दक्षिण की हवि मरूतों के लिये होती है। इन दोनो आहुतियों में करीट फल समर्पित करते हैं। उनके ऊपर शमी वृक्ष के पत्ते डालते हैं। यज्ञ के प्रथम दिवस पर दक्षिणाग्नि पर जौ की भूसी डालते हैं इस याज्ञिक कृत्य में जौ से मेष–मेषी

का निर्माण करते हैं। मेष को वरूण का पशु स्वीकार किया जाता है। वस्तुतः प्रजा ने वरूण के जौ को खा लिया था, तभी वरूण ने प्रजा को कष्ट दिया। अतः इस कृत्य में वरूण के प्रति समादर व्यक्त करने के लिये जौ का मेष–मेषी जोड़े के रूप में बनाते है। जोड़े के रूप में निर्मित करने का उद्देश्य प्रजा को वरूणपाश से मुक्त करके संततियुक्त करने से सम्बद्ध है।

इस कृत्य में उत्तरी पयस्या पर मेषी को एवं दक्षिणी पयस्या पर मेष को व्यवस्थित करते हैं, क्योंकि स्त्री, पुरूष के उत्तर की ओर विश्राम करती है। अध्वर्यु अन्य सब हवियों को उत्तरवेदी पर रखता है और प्रतिप्रस्थात् (ऋत्विक्) दक्षिण की वेदी पर पयस्या रखता है। हवियों को रखकर अग्निमंथन करता हुआ ऋत्विक् इस मंत्र का उच्चारण करता है–

"प्रघासिनो हवामहे मरूतश्च रिशादशः"।[1]

अर्थात् प्रघास एवं करम्भ नाम की अग्नियों को भली–भांति खाने वाले एवं शत्रुओं का नाश करने वाले मरूत् का आह्वान होता है। अब दक्षिणाग्नि पथ पर इस मंत्र से आहुति देता है–

"यद्ग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये।"[2]

अर्थात् जो पाप ग्राम में किया, जो वन में किया, जो सभी में किया एवं जो इन्द्र में किया। अब देवताओं के निमित्त मंत्रोच्चारण करता है–

"यदेनश्चकृमा वयमिदं तद्वयजामहे स्वाहा"[3]

अर्थात् जो कुछ पाप हमने किया है, उससे मुक्ति के लिये यज्ञ करता हूँ।

ऋत्विक् अब इन्द्र एवं मरूतों का मंत्रोच्चारण करता है–

"मो पूणऽ इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हिष्मा ते शुष्मिन्नवयाः।

महश्चिद् यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरूतो वन्दते गीः।।[4]

---

1. शुक्लयजुर्वेद–3/44
2. शुक्लयजुर्वेद–3/45
3. शुक्लयजुर्वेद–3/45
4. शुक्लयजुर्वेद–3/46

अर्थात् "हे इन्द्र! युद्ध में हमारा देवों से संघर्ष न हो, हे बलवान! यज्ञ में तेरे लिये भाग है। हे बहुदानवर्षक! यजमान की स्तुति तेरे द्वारा पूज्य जौ की प्रशंसा करती है"। इन्द्र, मरूत्, वरूण तथा मरूतों को समर्पित किये जाने वाले दुग्ध में, पके हुये चरू की बलि दी जाती है एवं अवशिष्टांश को खा लेते हैं। इसमें यजमान को यह स्पष्टीकरण देना पड़ता है कि उसके कितने एवं कौन–कौन से स्नेहकर्त्ता है। दक्षिणाग्नि में करम्भों को समर्पित करना पडता है। अब यज्ञकृत्य में एक दूसरे को स्नान कराते हुये पति–पत्नी स्नान में भाग लेते है। वरूणप्रधास में अन्ततः यजमान के दाढ़ी एवं बाल को बनाया जाता है। अब दोनो अग्नियों को वहाँ से उठा लेते हैं, क्योंकि स्थान परिवर्तन करके अन्य स्थान में यज्ञ होता है। उत्तरवेदी पर अग्निहोत्र करना उचित नही होता, अतः घर जाकर अग्निमंथन करके यजमान पूर्णमासी यज्ञ सम्पादित करता है। यह चातुर्मास्य यज्ञ से भिन्न है। पूर्णमासी यज्ञ सुनिश्चित होता है, क्योंकि निश्चित यज्ञ के द्वारा वह स्वयं को स्थापित कर लेता है, इसीलिये वह स्थान परिवर्तित करता है। इस प्रकार वर्षाकाल का वरूणप्रधास यज्ञ सम्पादित किया जाता है।

(3) <u>साकमेध यज्ञ</u>

वरूणप्रधास के चतुर्थमास के उपरांत साकमेध यज्ञ प्रारम्भ किया जाता है। इस यज्ञ को लगातार दो दिवसों में किया जाता है। इसमें मरूतों के लिये बलियों की संख्या अधिक होती है। इस कृत्य में मुख्य विषय पितरों के लिये भोज का है, जिसके कारण इस यज्ञ को पितृयज्ञ या महापितृयज्ञ भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत अपने पूर्वजों की सोमवन्त बर्हिषद् तथा अग्निष्वात् के रूप में अर्चना की जाती है। इस यज्ञ के कृत्य पितृश्राद्ध के तुल्य होते हैं। इस यज्ञ को दक्षिणाग्नि में एवं दक्षिण दिशा में किया जाता है। वही एक वेदी बनाकर अग्नि की स्थापना की जाती है। इस कृत्य में आहुतियाँ स्वधा शब्द के साथ दी जाती है। इसमें पूर्णत्र्यम्बक एवं रूद्र के लिये समादर व्यक्त करते हुये यजमान इस मंत्र का उच्चारण करता है–

"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारूकमिव बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।।"[1]

---

1. शुक्लयजुर्वेद 3/60

इस कृत्य में देवताओं का स्थान उत्तर दिशा में होता है। मध्य स्थान पर अग्नि प्रज्वलित की जाती है। इसमें परिवार के सदस्यों की संख्या से एक अतिरिक्त पुरोडाश अग्नि में समर्पित किया जाता है। उत्तर में एक पुरोडाश को वल्मीक अथवा मूषक के बिल पर इस मंत्रोच्चारण के साथ रख देते हैं–

"एष ते रूद्र भागऽआखुस्ते पशुः,"[1] अर्थात् हे रूद्र! यह तेरा भाग है एवं मूषक तेरा पशु है। इस प्रकार रूद्र के पशु को ऋत्विक् नियत कर देता है। फलतः रूद्र किसी अन्य पशु को कष्ट नही देते हैं।

पुनः वापस आने पर पुरोहित एवं यजमान सभी इस मंत्रोच्चारण के साथ प्रार्थना करते हैं–"अवरूद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकं। यथा नो वस्य सस्करद् यथा नः श्रेयसस्करद् यथा नो व्यवसाययात्।। भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरूषाय भेषजम्। सुखम् मेषाय मेष्यै।।[2]

अर्थात् हम त्र्यम्बक देव रूद्र को सन्तुष्ट करते हैं, वह हमको घर इत्यादि से युक्त करे, हमारा कल्याण करे एवं हमको व्यवसायी बनायें। हे रूद्र! आप ओषधि है। गाय, अश्व एवं पुरूष के लिये आप ओषधि है। भेड़ एवं भेड़ी के लिये सुख है अर्थात् सब प्राणी के लिये सुखदाता है, इस यज्ञ में यह आशीर्वाद है।

पितृयज्ञ में यजमान अपनी वामजंघा को पीटता है, दाँये से बॉये ओर अग्नि की तीन बार परिक्रमा करता हुआ, पुनः जंघा पीटते हुये इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् उर्वारूकमिव बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।[3]

अर्थात् सुगन्ध युक्त पुष्टि करने वाले त्र्यम्बक से यह प्रार्थना करते हैं कि वह हमको मृत्यु के बन्धन से उसी प्रकार से मुक्ति प्रदान करें, जैसे उर्वारूक लौकी अपने ठंडल से, परंतु मोक्ष से नहीं।

---

1. शुक्लयजुर्वेद 3/57
2. शुक्लयजुर्वेद 3/58, 3/59
3. शुक्लयजुर्वेद 3/60

इस याज्ञिक कृत्य में अविवाहित स्त्रियाँ भी सौभाग्य–वृद्धि के लिये परिक्रमा कर सकती हैं, परन्तु वे (अविवाहित स्त्रियॉ) इस मंत्रोच्चारण के साथ अपनी जंघा को पीटती हैं–

"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्।

उर्वारूकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः।।"[1]

अर्थात् हम सुगन्ध युक्त पतियों की प्राप्ति कराने वाले त्र्यम्बक की स्तुति करते हैं। वह हमको इस लोक से लौकी की डण्ठल की भाँति मुक्ति प्रदान करें, परन्तु उस लोक से नहीं। इस लोक से तात्पर्य है कि मेरे माता–पिता से, वहॉ से नहीं का तात्पर्य है कि पति से नहीं।

यजमान अब पुनः वेदी के चारो ओर परिक्रमा करता है एवं दाहिनी जंघा को पीटते हुये उपर्युक्त मंत्र का उच्चारण करता है। दक्षिण दिशा में कार्य सम्पन्न होने के कारण दक्षिण की ओर परिक्रमा की जाती है।

अब यजमान अवशिष्ट पुरोडाश के संक्षिप्त अंश को लेकर ऊपर की ओर उछालता है, जैसे ही पुरोडाश गिरता है, यजमान उसे ग्राह्य कर लेता है, जो पुरोडाश गिर जाते है, उनको केवल स्पर्श कर लेता है। इस प्रकार पुरोडाश को ओषधि के रूप में निर्मित किया जाता है। अब पुरोडाश को दो टोकरियों में रखकर, बाँस के दो सिरों पर किसी वृक्ष या ठूँठ में इस मंत्रोच्चारण से बाँध देता है–"एतत् ते रूद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि"।[2]

अर्थात् हे रूद्र! यह तेरा तोशा है, इसे लेकर तू अपने निवास स्थान मूजवान् पर्वत के उस पर आ जा। सामान्यतः तोशा लेकर ही लोग इधर–उधर यात्रा

---

1. शुक्लयजुर्वेद 3/60
2. शुक्लयजुर्वेद 3/61

करते हैं। इस प्रसंग में उसकी यात्रा मूँजवत् के उधर है, इसलिये मूँजवत के उधर कहता है। अब इस मंत्राश का उच्चारण करता है–

"अवततधन्वा पिनाकवासः",[1] अर्थात् बिना खिचे हुये धनुष एवं वज्र से युक्त, इसका भावार्थ है कि हिंसा या कष्ट न पहुँचाते हुये यजमान का कल्याण करते हुये जाओं।

अब कहता है–'कृत्तिवासा' अर्थात् चमड़ा पहने हुये। इससे वह उसे शयन करा देता है। वस्तुतः शयन करते समय कोई दुष्ट शक्ति हानि न पहुँचा सके, इसलिये कहा चमड़ा पहने हुये। अब दक्षिण की ओंर प्रस्थान करते है, पीछे देखना वर्जित है, पुनः लौटकर जल का स्पर्श करता है। अब तक रूद्र यज्ञ कर रहे थे। जल शांत है, अतः शांति रूपी जल से स्वयं को पवित्र करते है। इसके उपरांत प्राणायाम किया जाता है और यज्ञ करने वाला व्यक्ति पृष्ठ दिशा में दृष्टिपात् किये बिना वापस आकर पुनः जल को स्पर्श करता है। अब वह केश एवं श्मश्रु को कटवाता या छेदन करवाता है एवं उत्तरवेदी की अग्नि लेता है। यह उचित नही होता कि वह उत्तरवेदी पर अग्निहोत्र करे, अतः स्थान परिवर्तित कर लेता है। अब यजमान घर जाकर अग्निमंथन करके पौर्णमास यज्ञ करता है। चातुर्मास्य यज्ञ पृथक् होता है, परन्तु पौर्णमास यज्ञ नियत एवं प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार यजमान निश्चित यज्ञ के माध्यम से स्वयं को प्रतिष्ठित करता है।

शुनासीर यज्ञ

इस यज्ञ में पाँच प्रयाज, तीन अनुयाज और एक समिष्टयजुः सम्मिलित किये जाते हैं। सर्वप्रथम पॉच साधारण हवियाँ होती हैं। इन्हीं पांच हवियों से प्रजापति ने प्रजा को वरूण के बन्धन से मुक्त किया था। शुनासीर पुरोडाश बारह कपालों का होता है। अब वायु के लिये दुग्धाहुति होती है। वस्तुतः प्रजा

---

1. शुक्लयजुर्वेद 3/61

उत्पन्न होते ही दुग्ध पीती है, इसीलिये दुग्धाहुति होती है। वायु को आहुति देने का कारण है कि वायु से ही वर्षा होती है एवं वर्षा से ही ओषधि उत्पन्न होती है। अब एक कपाल का पुरोडाश सूर्य के लिये होता है, सूर्य ही तपता हुआ सबकी रक्षा करता है।

साकमेध के साथ–साथ शुनासीर यज्ञ भी अवश्य करना चाहिये, वर्ष–पर्यन्त तीन बार करने से सम्पूर्णता प्राप्त होती है। सामान्यतः रात्रिकाल में आकाश में फाल्गुनी पूर्णमासी स्पष्टतः परिलक्षित होने पर 'शुनासीर यज्ञ' का सम्पादन करना चाहियें।

"चातुर्मास्य के सभी पर्वों में यजमान के लिये व्रत अथवा कुछ कृत्य करना अत्यन्त आवश्यक होता है, यथा–सिर के बाल एवं श्मश्रु आदि बनवाना, पृथ्वी पर शयन करना, मधु–सेवन न करना, मांसभक्षण, लवण, मैथुन एवं सौन्दर्य–प्रसाधन आदि का परित्याग करना चाहिये। सभी चातुर्मास्य में पाँच कृत्य आवश्यक माने गये हैं, यथा–अग्नि के लिये अष्ट घट शकलों (कपाल) का एक पुरोडाश (रोटी), सोम के लिये पकाया हुआ चावल, सविता (उपांशु) के लिये द्वादश या अष्ट कपालों वाला एक पुरोडाश, सरस्वती के लिये चरू तथा पूषा के लिये चावल के आटे का चरू। चातुर्मास्य यज्ञ को सम्पन्न करने से यजमान को स्वर्ग प्राप्त होता है। यह यज्ञ जीवन–पर्यन्त अथवा एक वर्ष के लिये किया जाता है।"[1]

चातुर्मास्य यज्ञ का उद्देश्य

वस्तुतः सर्वप्रथम प्रजापति ही सत्तावान थें, उन्होंने अपनी शक्ति से प्रजा को प्रादुर्भूत किया। ऐसा कथन भी प्राप्त होता है–तिस्रोऽअत्यायमीयुः।[2] अर्थात् यह उनके लिये कहा गया जो तीन बार उत्पन्न होकर मृत्यु को प्राप्त हो गयें। प्रजापति को यह अनुभूति हुयी कि मेरी प्रजा भोजन के अभाव में मुत्यु को प्राप्त हो जाती है। अतः उसने अपने स्तनों में पहले से ही दुग्ध धारण कर लिया।

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1–पी० वी० काणे, पृष्ठ–535
2. ऋग्वेद–2/101/14

अब प्रजा ने दुग्ध ग्रहण करके उत्तम स्वास्थ्य अर्जित कर लिया और जीवन की परम्परा अनवरूद्ध गति से प्रवाहमान् है। यह दुग्ध ही अन्न है, क्योंकि प्रजापति ने सर्वप्रथम इसी भोजन को उत्पन्न किया। सामान्यतः दृष्टिपात् किया जाये तो अन्न ही प्रजा है, क्योंकि अन्न से ही सब उत्पन्न होता है। समाज में पूर्व में शिशु स्तनपान करके ही जीवन प्राप्त करता है। संतान की इच्छा करने वाला व्यक्ति इस हविर्याग को सम्पादित कर सकता है। वैश्वदेव यज्ञ में सभी देवों को पयस्या की आहुति देते हैं। समाज में जो व्यक्ति वैश्वदेव यज्ञ को सम्पादित करता है, वह प्रजा एवं धन–धान्य से युक्त होता है। वस्तुतः प्रजापति द्वारा सम्पन्न वैश्वदेव यज्ञ से प्रजा उत्पन्न हुयी, उससे उत्पन्न प्रजा ने वरूण के जौ को खा लिया। जौ पहले वरूण का था, वरूण का जौ खाने के कारण इस यज्ञ का नाम "वरूण प्रघास" पड़ा। अब वरूण का जौ ग्रहण करने के कारण प्रजा रोगयुक्त हो गयी, प्रजापति ने इस हविर्याग के द्वारा प्रजा को पुनः स्वस्थ कर दिया। इस प्रकार जो व्यक्ति चतुर्थ माह अथवा वर्षाऋतु में वरूण प्रघास करता है, तो उसकी सन्तानें वरूणपाश से मुक्त होकर स्वस्थ हो जाती हैं।

वस्तुतः साकमेध यज्ञ के द्वारा देवों ने वृत्र नामक असुर का वध करके स्वर्ग लोक का आनन्द एवं सुखानुभूति प्राप्त की थीं। इस तथ्य को जानकर इस यज्ञ के द्वारा यजमान भी अपने पापी शत्रुओं एवं विरोधियों को समाप्त करके उन पर विजय प्राप्त करता है। यजमान वरूण–प्रघास के चतुर्थ मास के उपरांत साकमेध यज्ञ करता है।

"साकमेध यज्ञ" के माध्यम से वृत्र पर विजय प्राप्त करने वाले देवों की जो श्री थी, वही 'शुनम' है। प्राप्त हुये संवत्सर का जो रस है वह 'सीर' है। इस प्रकार यजमान शुनासीर यज्ञ के माध्यम से श्री एवं शुनम, दोनो को प्राप्त करता है।

चातुर्मास्य यज्ञ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

श्रौतकर्मकाण्ड से सम्बद्ध चातुर्मास्य यज्ञ के अन्तर्गत तीन प्रमुख यज्ञ परिगणित किये जाते हैं। इन तीनों यज्ञों का उद्दीपक अभीष्ट फल प्राप्ति है। आधुनिक मनोविज्ञान भी प्रेरणा को इस प्रकार परिभाषित करता है–

"A motive is any particular internal factor or condition that to initiate and to sustain activity."[1]

इस प्रकार अभीष्ट फल संवेग के द्वारा यजमान के अन्तःकरण में प्रेरक–शक्ति के रूप में जागृत होकर उसे अभीष्ट के चिंतन एवं क्रिया हेतु विवश करता है। चातुर्मास्य यज्ञ परम्परा में सर्वप्रथम वैश्वदेव यज्ञ आता है, इस यज्ञ में सात कपालों में मरूतों का पुरोडाश होता है। वस्तुतः किसी व्यक्ति को यदि निमन्त्रण दिया जाता है, तो उसके लिये स्वतंत्र भोज की व्यवस्था की जाती है, न कि विभिन्न व्यक्तियों को एक ही पात्र में भोजन प्रदान किया जाता है। अतः वैदिक ऋषियों एवं यज्ञकर्म–निर्माताओं ने विशुद्ध बौद्धिक भावना का परिचय देते हुये सात मरूत्‌गणों के लिये सात स्वतंत्र पात्र में पुरोडाश की व्यवस्था की है।

इस यज्ञ को सम्पादित करने से व्यक्ति प्रजायुक्त अर्थात् संतान–युक्त होता है। वैदिक ऋषियों ने पयस्या एवं मद्वा का संयोग करके जो आहुति देने की व्यवस्था की है। उसके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि पयस्या स्त्री के समान माधुर्ययुक्त होता है एवं मद्वा वीर्य के समान है, ऐसी धारणा–शक्ति (Retaintion) एवं प्रेरणा (Motivation) के आधार पर ही यजमान मद्वा एवं पयस्या का संयोग करके आहुति प्रदान करता है, जिससे वह प्रजावान होता है। द्यावा–पृथ्वी को प्रदान की जाने वाली आहुति का उद्देश्य यही

1. J.P. Guilford, General Psychology-1956, p-91

है कि उत्पन्न प्रजा पृथ्वी पर स्थिर हो जाये। यजमान इसी धारणा–शक्ति के आधार पर द्यावा–पृथ्वी को आहुति देता है। वस्तुतः इस यज्ञ में बुद्धि एवं विवेक–शक्ति का प्रयोग इस तथ्य से भी परिलक्षित होता है कि ऋतु सम्बन्धी यज्ञ होने के कारण उसी ऋतुकाल के वृक्ष, टहनियों एवं पुष्पादि का प्रयोग याज्ञिक कृत्य में किया जाता है। वस्तुतः यज्ञीय ओषधियाँ एवं वृक्ष इत्यादि ऋतुकाल से सम्बद्ध होने के कारण सहजता पूर्वक एवं बहुतायत में प्राप्त होते हैं। मनोविज्ञान भी धारणा–शक्ति (Retaintion) एवं बुद्धि (Intelligence) को स्वीकार करता है।[1] वरूणप्रधास यज्ञ वरूण से प्रजा की रक्षा एवं वरूण की कृपा प्राप्त करने के लिये किया जाता है। इस यज्ञीय कृत्य में यजमान धारणा–शक्ति के आधार पर एवं मंत्रशक्ति से दृढ़निश्चय होकर वरूण को प्रधानता देते हुये उन्हें पाँच आहुतियाँ प्रदान करता है, इसी क्रम में प्रजापति ने वरूण से प्रजा की रक्षा की थीं। प्रायः किसी व्यक्ति को संतृप्त करने पर व्यक्ति को आत्मिक आनन्द की अनुभूति होती है एवं संतृप्त हुआ व्यक्ति, उस व्यक्ति के प्रति कृतज्ञता का आभार प्रकट करता है। इसी आधार पर इस कृत्य में वरूण के विश्वास को प्राप्त करने तथा उनके हृदय में प्रजा के प्रति स्नेह, दया एवं करूणा की वृत्ति उत्पन्न करने के लिये यजमान जौ के मेष–मेषी बनाता है और उसे यज्ञीय कृत्य में प्रयोग करता है। इस कृत्य में यजमान मेष–मेषी की सांकेतिक संकल्पना पति–पत्नी के रूप में करके उत्तरी पयस्या में मेषी एवं दक्षिणी पयस्या में मेष को स्थापित करता है। वस्तुतः स्त्री, पुरूष के बाँये ओर शयन करती है।

यजमान धारणा–शक्ति (Retaintion) एवं दृढ़ता (Determination) के आधार पर इस प्रकार मंत्र का उच्चारण करता हुआ मरूत् का आह्वान करता है– "प्रधासिनो हवामहे मरूतश्च रिशादशः।"[2]

---

1. मनोविज्ञान का पारिभषिक शब्दकोश–निर्मला शेरजग
2. शुक्लयजुर्वेद–3/44

इस कृत्य में यजमान विशुद्ध बौद्धिक भावना का परिचय देते हुये मंत्र विशेष के द्वारा प्रायश्चित् करने का भाव प्रकट करता है–

"यदेनश्चकृमावयमिदं तद् वयजामहे स्वाहा।"[1]

अब इसी कृत्य में इन्द्र एवं मरूतों के प्रति मंत्रोच्चारण करता है–

मो पूणऽ इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हिष्मा ते शुष्मिन्नवयाः।

महश्चिद् यस्य मीढुषे यव्या हविष्मतो मरूतो वन्दते गीः[2]।।

वस्तुतः यजमान इस मंत्रोच्चारण के माध्यम से अपनी तर्कणाशक्ति एवं दूरदर्शिता का परिचय देता है, जिससे इस कृत्य को सम्पादित करते समय उसका अन्य देवों से संघर्ष न हो। आधुनिक मनोविज्ञान भी बुद्धि, विवेक एवं तर्कणाशक्ति को महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में स्वीकार करता है। प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक स्टर्न के कथनानुसार–"**A general capacity of an individual consciously to adjust his thinking to new requirements**"[3]

इस प्रकार मंत्रशक्ति की दृढ़ता एवं अपने अभीष्ट से प्रेरित होकर यजमान अपने लक्ष्य को 'वरूणप्रधास यज्ञ' के द्वारा प्राप्त कर लेता है।

चातुर्मास्य यज्ञ को सम्पादित करने में बहुत से अवरोध आते है, सांकेतिक क्रम में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये एवं यज्ञावरोध समाप्त करने के लिये तथा अपने लक्ष्य में सफलता प्राप्ति के निमित्त 'साकमेध' एवं 'शुनासीर' यज्ञ का सम्पादन किया जाता है। वस्तुतः साकमेध यज्ञ के द्वारा देवताओं ने इन्द्र के शत्रु वृत्रासुर को मार्ग से समाप्त करके स्वर्ग के सुख–समृद्धि एवं आनन्द को प्राप्त किया था। इसी संकल्प–शक्ति (will power) से प्रेरित

---

1. शुक्लयजुर्वेद–3/45
2. शुक्लयजुर्वेद–3/46
3. Stern-Nature of Intelligence 1914-p-3

(Motivate) होकर यजमान इस कृत्य के द्वारा चातुर्मास्य के मध्य होने वाले अवरोधों को समाप्त करके मंत्रशक्ति की दृढ़ता से तथा अभीष्ट लक्ष्य से प्रेरित होकर अपने उद्देश्य को प्राप्त करता है। इस कृत्य के सम्पादनार्थ एवं अनिष्ट के कुप्रभाव से अपनी रक्षा हेतु तथा याज्ञिक कृत्य के रक्षा हेतु यजमान इस मंत्र का उच्चारण करता है –"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् उर्वारूकमिव बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्"।[1]

इस प्रकार यजमान मंत्रशक्ति से अपने मन का स्थिरीकरण करके, विवेक–शक्ति के आधार पर उपर्युक्त मन्त्रोच्चारण के द्वारा त्र्यम्बक देव से हृदयात्मक (भावात्मक) सम्बन्ध स्थापित करता है, जिससे त्र्यम्बक देव यज्ञ कृत्य में समस्त बाधाओं को समाप्त कर उसके अभीष्ट की सम्प्राप्ति में सहायता प्रदान करते हैं। इस प्रकार मंत्रशक्ति एवं दृढ़ता के आधार पर यजमान अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। चातुर्मास्य के सम्पादन में यजमान को ब्रह्मचर्य धारण करना पड़ता है एवं केश, श्मश्रु इत्यादि का वपन यज्ञ कार्य के उपरांत करता है। वस्तुतः सात्विक–वृत्ति रखने से यजमान का चंचल मन पूर्णतयः विषय (चातुर्मास्य) में केन्द्रस्थ हो जाता है एवं केन्द्रस्थ मनोवृत्ति ही व्यक्ति को किसी भी कार्य में सफलता प्रदान करती है। इसे मनोविज्ञान की भाषा में एकाग्रता (concentration)[2] कहते हैं। चातुर्मास्य के अन्तर्गत एकाग्रता की वृत्ति, मंत्रों की पूर्व धारणा–शक्ति, मंत्र–शक्ति एवं संकल्प–शक्ति की दृढ़ता से यजमान अपने याज्ञिक कार्य को अभीष्ट लक्ष्य से प्रेरित (Motivate) होकर आगे बढ़ाता रहता है। चातुर्मास्य के सम्पादित होने पर यजमान फल के रूप में प्रजायुक्त, धन–धान्ययुक्त, वरूणपाश से संतानों की कष्ट–मुक्ति, सुख–समृद्धि तथा स्वर्गसत्ता की सुखानुभूति प्राप्त करता है।

---

1. शुक्लयजुर्वेद – 3/60
2. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश–निर्मला शेरजंग

पशुबन्ध या निरूढ़ पशुबन्ध

पशुबन्ध एक प्रकार का निरपेक्ष याग है। सोमयागों में इसका आयोजन उनका एक अनिवार्य अंग स्वीकार किया जाता है। "पशुयज्ञ को निरूढ़ पशुबन्ध अर्थात्, आँत निकाले हुये पशु की आहुति कहा जाता है तथा अन्य गौण पशुयज्ञों की सौमिक संज्ञा है।"[1] "निरूढ़–पशु, सोमयाग में प्रयुक्त पशुबलि (अग्निषोमीयपशु) का परिमार्जन है।"[2]

यह यज्ञ भी प्रत्येक वर्ष में करना होता है। पशुबन्ध में सर्वप्रथम पुरोहितों का चयन महत्त्वपूर्ण है। अध्वर्यु आहवनीय में घृत छोड़ता है, इसे 'यूपाहुति' कहते हैं। इसमें विशेष प्रकार के यज्ञीय यूप की व्यवस्था की जाती है। वेदी निर्माण के उपरांत इस यज्ञ के द्रव्य बकरे को सुगन्धित जल से स्नान कराकर चात्वाल एवं उत्कट के मध्य स्थापित किया जाता है। इसका विशेष ध्यान देते है कि "बकरे का सींग टूटा न हो, कान कटा न हो, दाँत टूटे न हो न ही पुच्छ रहित हो, लँगड़ा न हो एवं सम्पूर्ण खुरों वाला हो। यदि उपर्युक्त दोषों में कोई भी दोष विद्यमान है, तो शुद्वि के लिए विष्णु, अग्नि–विष्णु, सरस्वती या बृहस्पति को आज्याहुति दी जाती है।"[3] पशुचयन एवं शुद्धि के उपरांत "पशूपाकरण" प्रकिया को प्रारम्भ किया जाता है।, जिसमें पशु को मंत्रोच्चारण के साथ स्पर्श करके देवों को आदरपूर्वक समर्पित किया जाता है। अब पशु को जलपान कराकर उसके शरीर के कुछ अवयवों पर जल छिड़क कर उसकी शुद्धि की जाती है। "पशुबलि इन्द्र– अग्नि, सूर्य या प्रजापति के लिए दी जाती है।"[4] बलि प्रदान करने वाले को प्रत्येक पशुबन्ध में जीवन पर्यन्त उसी देवता को बलि समर्पित करना पड़ता है, जिसका उसने सर्वप्रथम वरण किया है। पशुबन्ध में पशु–हनन कृत्य को शमिता नामक ऋत्विक् सम्पादित करता है। अध्वर्यु शमिता

---

1. आश्व श्रौतसूत्र 0–3/8/3–4
2. जैमनि–8/1/13
3. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र–7/12/3
4. कात्यायन श्रौतसूत्र–6/3/29–30

को इस यज्ञ में सम्मिलित करके उसे पशु–हनन के लिए विशेष अस्त्र देता है। अब शमिता पशु को काट देता है। इसके उपरांत यज्ञ स्थान की भूमि पर एक गड्ढा बनाकर उसमें, पशु के आँत को गड्ढे में मिट्टी से दबा दिया जाता है। अब "शामित्र अग्नि" पर उस पशु के मांस को भलीभाँति पकाया जाता है। इस तथ्य का विशेष ध्यान रखते है कि पशुवध के समय पशु चित्कार न करे, इसी निमित्त उसके मुख को एक वस्त्र से बाँध दिया जाता है। इस यज्ञ में विद्यमान ऋत्विक्, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थात्, आग्नीध्र एवं यजमान पशुवध के स्थान पर दृष्टिपात् नही करते है, प्रत्युत् वे अपने मुख एवं दृष्टि को अन्य दिशा की ओर करके पशु के परमकल्याण एवं सद्गति के लिए मंत्रोच्चारण करते हैं।जब पशु प्राणविहीन हो जाता है, तो यजमान की भार्या उस पशु के मुख, नासिका, नेत्रों, नाभि, लिंग, गुदा भाग एवं पादों को मन्त्रोच्चारण के साथ शुद्ध कर देती है। सभी पुरोहित अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता, आग्नीध्र, प्रतिप्रस्थात्, मैत्रावरूण, यजमान एवं उसकी भार्या मार्जन द्वारा स्वयं को भी शुद्ध करते हैं। पशूपाकरण कृत्य के सम्पन्न हो जाने के उपरांत पशु–पुरोडाश के निर्माण हेतु आवश्यक उपकरणों या पात्रों को आहवनीय के पूर्व में स्थापित करते है। अध्वर्यु "शमिता को निर्देश देकर पशु के शरीर से हृदय एवं जिह्वा इत्यादि को पृथक् करके निकलवाता है"।[1] आपस्तम्ब के अनुसार "पशु के कटे हुये अंग हृदय, छाती, जिह्वा, कलेजा, वृक्क, बांये पैर का अग्र भाग, दो पुट्ठे, दाहिनी जंघा, मध्य की अंतड़ियाँ इत्यादि अंग देवता के लिये है। दाहिने पैर का अग्र भाग, बाँयी जंघा, पतली अंतड़ियाँ स्विष्टकृत् को दी जाती है। दाहिना फेफड़ा, प्लीहा, पुरीतत्, अध्यूध्नी, वनिष्ठु (बड़ी आँत) मेदा, जाँघनी (पुँछ) आदि भी आहुतियों के रूप में दिये जाते है। हृदय को छोड़कर सभी अंग उखा नामक पात्र में पकाये जाते हैं। हृदय को एक अरत्नि लकड़ी में खोसकर अलग से भुना जाता है"[2]। इस सम्पूर्ण कृत्य में पशु के शरीर के अवयवों को पकाने का कार्य शमिता द्वारा सम्पन्न

---

1. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र–7/22/5–7
2. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र–7/22/6

किया जाता है। जैमनि के अनुसार "मॉस पकाने का कार्य 'शालामुखीय अग्नि' पर होता है"।[1] अब अध्वर्यु पशु के पके हुये मांस को घृत में भलीभाँति मिश्रित करके इन्द्र, अग्नि, एवं स्विष्टकृत् को मांसाहुति समर्पित करता है। इस प्रकार अध्वर्यु सम्पूर्ण माँस के अधिकांश भाग को अग्नि में समर्पित कर देता है। पशु–माँस के अवशिष्टांश का कुछ भाग ब्रह्मा को तथा कुछ भाग अन्य पुरोहितों को प्रदान किया जाता है। शमिता के द्वारा पूर्णतः पका हुआ हृदय भाग एवं अन्य अवशिष्ट माँस–भाग को अध्वर्यु आहवनीय अग्नि के समीप तथा यज्ञीय वेदी के दक्षिणी दिशा में स्थापित करके अन्य कृत्यों का सम्पादन करता है। इस यज्ञ में 'सम्पूर्ण पशु' यज्ञीय पदार्थ है एवं उसके अवयव हवि के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं।

पशुयाग को सम्पादित करने के पीछे मूल उद्देश्य यही था कि भक्त लोग सहभोज के द्वारा देवताओं के साथ अपने सम्बन्ध को प्रगाढ़ कर सकें। अभीष्ट फल प्राप्त करने के लिए भी, इस यज्ञ को सम्पादित करना एक प्रमुख उद्देश्य है। इस यज्ञ को सम्पादित करने से मनुष्य को जीवन में सम्पत्ति, ग्राम, यश आदि के प्राप्ति सुकर होती है। इस सन्दर्भ में तैत्तिरीय संहिता का कथन है–

"समृद्धि के लिये श्वेत पशु वायु को, ग्राम के लिये कोई पशु वायु नियुत्वान को एवं वाक्पटुता के लिये भेड़ सरस्वती को समर्पित किया जाता है"।[2]

इस प्रकार पशुयाग से जीवन में विविध प्रकार की भौतिक सुख–समृद्धि एवं स्वर्गादिलोक की प्राप्ति होती है।

---

1. जैमनि–12/1/12
2. तैत्तिरीय संहिता – 2/1/2/6

पशुबन्ध का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

श्रौतकर्मकाण्डों से सम्बद्ध "पशुबन्ध यज्ञ" यजमान को उसके अभीष्ट फल की प्राप्ति कराने वाला एक महत्त्वपूर्ण यज्ञ है। "निरूढ़ पशुबन्ध" में पशु के अवयवों को विभिन्न देवों को समर्पित करके उनके सानिध्य अर्थात् कृपा-दृष्टि की प्राप्ति की जाती है। इस कृत्य में ऐसा स्वीकार किया जाता है कि देवों को प्रदान की जाने वाली मांसाहुति उनकों संतुष्ट करके, उनके मनोवेग की धारा को यजमान के कल्याणकारी चिंतन पर विवश कर देती है। पशुबन्ध से प्राप्त होने वाला अभीष्ट फल यजमान के लिये उद्दीपक का कार्य करता है, जिससे प्रेरित होकर वह विविध प्रकार के भौतिक एवं आध्यात्मिक उद्देश्य की प्राप्ति करता है। मनोविज्ञान भी प्रेरणा (Motivation) को इस प्रकार परिभाषित करता है"-"**A motive is any particular internal factor or condition that to initiate and to sustain activity.**"[1]

इस प्रकार पशुबन्ध के अभीष्ट फल से यजमान के अन्तःकरण में तीव्र संवेग आंतरिक प्रेरक के रूप में स्थित होकर लक्ष्य प्राप्ति के लिये यजमान को प्रेरित करता है। देव अत्यन्त पवित्र है, अतः स्वच्छता से ही उनके मानसिक बिन्दु को स्वकल्याण के लिये आकृष्ट किया जा सकता है, तभी यजमान इस कृत्य में ऐसे पशु का प्रयोग करते हैं, जो किसी प्रकार से खंडित न हो एवं उसके शरीर के प्रत्येक अवयवों को शुद्ध किया जाता है। प्रायः किसी व्यक्ति को शुद्धता पूर्वक भोजन कराके उसके अन्तःकरण के निर्णय को अपने कल्याण के विषय में परिवर्तित किया जा सकता है। इस कृत्य में पशु का वध करके उसके अंगों (अवयवों) को निकालने के लिये एक विशेष ऋत्विक् नियुक्त किया जाता है। इस कृत्य में सफलता प्राप्त करने के लिये यजमान एवं पुरोहित के मन का

1. J.P.Guilford-Geneıal Psychology-1956 P-91

स्थिर होना अत्यावश्यक होता है। यदि यजमान एवं पुरोहित पशुवध करेंगे तो मनः–स्थिति के चंचल एवं घृणित–भाव के कारण यज्ञ खंडित हो जायेगा। वस्तुतः यज्ञ के पुरोहित एवं यजमान तो पशुवध की ओर दृष्टिपात् भी नहीं करते हैं। सामान्यतः पशुबन्ध के अन्तर्गत पशु का वध कल्याणकारी कार्यो के लिये किया जाता है, न कि भरण–पोषण के लिये, इसीलिये यजमान एवं पुरोहित के मन में पशु–हनन के अवसर पर घृणा–भाव उत्पन्न नही होता है। इस यज्ञ में यजमान स्थिर मन तथा दृढ़संकल्प–शक्ति से अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करता है।

सोमयज्ञ

श्रौतकर्मकाण्ड के अन्तर्गत हविर्याग के उपरांत द्वितीय महत्त्वपूर्ण भाग सोमयाग है। सोमयाग के अन्तर्गत आने वाले सभी यज्ञों में सोमलताओं से निःसृत सोमरस को एक प्रमुख द्रव्य के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

सोमयाग एवं अग्निष्टोम में सादृश्यता का भाव होता है। अग्निष्टोम एक दिवसात्मक सोमयाग का अत्यन्त सरल स्वरूप है। सोमयाग के अन्तर्गत एक ही दिवस में क्रमशः प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल में सोम समर्पित किया जाता है। "सोमयाग की प्रकृति अग्निष्टोम है"।[1] अग्निष्टोम नामकरण का मुख्य कारण यह है कि इस कृत्य के दिवसकाल में सामवेदीय मंत्रों का उच्चारण किया जाता है एवं अन्ततोगत्त्वा अग्नि के प्रति अन्तिम सामगान सम्पादित किया जाता है।

श्रौत–सूत्रग्रन्थों में सात प्रकार के सोमयज्ञों का विधान है। सात प्रकार के सोमयाग क्रमशः इस प्रकार हैं–अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र एवं आप्तोर्याम।[2]

सोमयाग के अन्तर्गत पशुयाग का भी लक्षण प्राप्त होता है। सोमयाग के उपसद् दिवसों के अन्तिम चरण में अग्नि तथा सोम देवता को बकरे की बलि समर्पित करते हैं। इस यज्ञीय कृत्य की द्वितीय पशुबलि सवन दिवस के प्रत्येक चरण में समर्पित की जाती हैं। इसी प्रकार 'अग्निष्टोम' के अन्तर्गत अग्नि को बलि समर्पित किया जाता है। सोमयाग के 'उक्थ्य' कृत्य में इन्द्र एवं अग्नि के निमित्त पशुबलि, 'षोडशी' की प्रक्रिया में मात्र इन्द्र के निमित्त पशुबलि एवं 'अतिरात्र' नामक प्रक्रिया में सरस्वती को पशुबलि समर्पित करते हैं। इस प्रकार सोमयाग के अन्तर्गत प्रत्येक यज्ञ के कर्मकाण्डीय कृत्य से सम्बद्ध देवों को पशुबलि समर्पित करते हैं।

---

1. आपस्तम्ब श्रौ0 सूत्र–10/13, 14/2–92
2. कात्यायन श्रौ0 सूत्र–10/9/26 आश्व0 श्रौ0 सूत्र–6/11/1, लाट्यायन श्रौ0 सूत्र0–5/4/24

सोमयज्ञ सम्पादित करने से पूर्व पुरोहितों का चयन किया जाता है, यज्ञ स्थान को व्यवस्थित किया जाता है एवं यजमान दीक्षा ग्रहण करता है। सोम का क्रय करके उसे शकटी पर यज्ञ स्थान में व्यवस्थित करके इन्द्र को सोमपान के लिये आमन्त्रित किया जाता है। अब सोम के निमित्त अतिथियज्ञ सम्पादित किया जाता है।

अतिथियज्ञ के निमित्त ग्रहण किये गये घृत को पुरोहित एवं यजमान स्पर्श करते हुये यज्ञ के प्रति सत्यता एवं एक–दूसरे के प्रति समर्पण का संकल्प करते हैं। सोमयज्ञ के अग्रिम क्रम में प्रवर्ग्य से सम्बद्ध कृत्य भी सम्पन्न किये जाते हैं।

सोमयज्ञ के कृत्य में अग्नि तथा सोम के निमित्त यजमान यज्ञीय विधि–विधान से बलि समर्पित करता है। सोमयज्ञ के प्रारम्भिक दिवस के रात्रिकाल में यजमान निद्रा का त्याग करके सोम की रक्षा करता है। द्वितीय दिवस पर प्रातःकाल अग्नि, उषा एवं अश्विनौ के प्रार्थना के साथ ही सोमयज्ञ से सम्बद्ध मुख्य कृत्य प्रारम्भ हो जाता है। द्वितीय दिवस पर इन्द्र, पूषन्, हरिवन्त्, सरस्वती, मित्र एवं वरूण आदि देवों को बलि समर्पित करने के निमित्त पुरोडाश निर्मित करते हैं।

प्रातःकालीन सवन के अन्तर्गत सोमलताओं के रस निकालने के पूर्व सम्बद्ध यज्ञीय देवों को दधि तथा घृत की बलि समर्पित करते हैं। अब सोमलताओं का विधिपूर्वक सवन करके उससे निःसृत रस को आहवनीय पात्र में रख देते हैं। उन्नेतृ नामक ऋत्विक् किसी विशेष पात्र से सोमरस निकालता है एवं यजमान उस रस को एक अखंडित धारा से किसी काष्ठ पात्र में विविध देवों के निमित्त गिराता है। सोमरस को परिपल्व पात्र में रख लेते हैं। सर्वप्रथम सोमरस के सवन में सोम का जो अनावश्यक क्षरण होता है, उसके निमित्त प्रायश्चित् आहुति देते है, पुरोहित बहिष्पवमान् का स्त्रोत्र पाठ करता है। अग्रिम

क्रम में यज्ञीय विधि से आश्विन् चषक की आहुति समर्पित करते हैं। यज्ञीय पशु की बलि समर्पित करने के उपरांत इन्द्र, मित्र, वरूण एवं अश्विनौ के निमित्त चषक समर्पित किये जाते हैं। अब चौदह ऋतुयज्ञ सम्पादित किये जाते है एवं होता आज्यशस्त्र का स्तवन करता रहता है। शस्त्र के अवसान पर सोम चषक की भी आहुति समर्पित करते हैं। शस्त्रों का उच्चारण क्रमशः मैत्रावरूण, ब्राह्मणाच्छंसी एवं अच्छावाक् ऋत्विक् सम्पादित करते हैं। इस कृत्य में उक्थ्य के देवों—क्रमशः मित्र, वरूण, इन्द्र एवं अग्नि के लिये भी चषक प्रदान किये जाते हैं। इस प्रकार इन समस्त कृत्यों के साथ प्रातःकालीन सवन कार्य सम्पन्न हो जाता है।

प्रातः सवन के उपरांत माध्यंदिन सवन प्रारम्भ किया जाता है, इसमें प्रातः सवन के साथ समानता होती है। इस कृत्य में पत्थरों की स्तुति करने वाले के रूप में एक नवीन ऋत्विक् प्रादुर्भूत होता है। यह ऋत्विक् सवन—प्रस्तरों को निर्देशित करके मंत्रोच्चारण करता है तथा सम्पूर्ण कृत्य में यजमान द्वारा प्रदत्त वस्त्र के द्वारा अपने सिर को आवृत कर देता है। सोमयज्ञ के माध्यंदिन की प्रक्रिया के अन्तर्गत उक्थ्य के कृत्य एवं अन्य कृत्य सम्पन्न किये जाते है। इसके उपरांत उष्णदुग्ध—दधिधर्म पान का कृत्य होता है। इसके उपरांत यूप की आहुति, शरावों को द्रव्य से भरा जाता है, शुक्र तथा मंथिन चषकों की आहुति एवं नराशंस चषकों से सम्बद्ध माध्यंदिन सवन के विविध कृत्य सम्पादित करने के उपरांत यज्ञ से सम्बद्ध विशिष्ट ऋषियों को विशिष्ट दक्षिणा एवं सामान्य ऋत्विजों को सामान्य दक्षिणा प्रदान करते हैं। दक्षिणा के उपरांत मरूत्वतीय शस्त्र के साथ मरूत्वतीय चषक की आहुति समर्पित करते हैं। निष्केवल्य स्तोत्र पाठ के साथ एक आहुति महेन्द्र को समर्पित करते हैं। इस अवसर पर इन्द्र, सूर्य के निमित्त विशिष्ट आहुति समर्पित की जाती है। इस प्रकार मध्याह्न सवन सम्पन्न हो जाने के उपरांत सायंकालीन सवन कार्य प्रारम्भ किया जाता है। सायंकाल आदित्य चषक महत्त्वपूर्ण है, यह चषक दो देवताओं के निमित्त होता है। सायंकालीन सवन के बहुत से कृत्य प्रातः एवं मध्याह्न के सदृश होते हैं।

सायंकालीन सवन कृत्य में पशुबलि से सम्बद्ध कृत्य सम्पन्न हो जाने के उपरांत प्रथम आहुति पितरों के निमित्त प्रदान करते हैं। अब सवितृ एवं वैश्वदेव चषक की आहुति प्रदान करते हैं। पात्नीवत् चषक समर्पित किये जाने के साथ यजमान पत्नी की उपस्थिति में विविध कृत्य सम्पन्न किये जाते हैं। इस कृत्य के समापन में अग्नि–मरूत् शस्त्र पाठ सम्पादित किया जाता है।

इस यज्ञ के सम्पादन के उपरांत हारियोजन एवं अवभृथ चषक की आहुति प्रदान करते हैं। सोमयज्ञ सम्पादित हो जाने पर समस्त पात्र एवं अन्य यज्ञीय सामग्रियों को जल में विसर्जित कर देते हैं। यजमान सपत्नीक सोमयज्ञ सम्पादित करने के उपरांत जलस्नान करके स्वच्छ वस्त्र धारण करता है। सोमयज्ञ में विविध प्रकार के देवों के प्रति समर्पण व्यक्त किया जाता है, परन्तु इस यज्ञ में सबसे महत्त्वपूर्ण उपस्थिति इन्द्रदेव की है।

कुछ स्थानों पर "सोमयज्ञ को वर्षाऋतु का अभिचार स्वीकार किया जाता है"।[1]

सोमलताओं के पौधे का सवन करके उसके रस को काष्ठपात्र में अखंडित धारा के रूप में गिराना वृष्टि के भाव को सूचित करता है।

फॉन श्रोदर के अनुसार "सोम एवं चन्द्रमा के आदिम सम्बन्ध से ऐसा प्रतीत होता है कि इस याज्ञिक कृत्य के दौरान यजमान चन्द्रमा के प्रतीक सोम के संसर्ग में आकार स्वयं चन्द्रमा की शक्ति प्राप्त कर लेता था।"[2]

इस यज्ञ को सम्पादित करने के पीछे मुख्य तत्त्व यही है कि यजमान इस कृत्य से दैवीय शक्तियों को प्राप्त करता है, जिसके माध्यम से उसका भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन प्रगतिशील होता है। सोमयाग भी काम्य सूचक है, इसे सम्पादित करने से यजमान विभिन्न प्रकार के भौतिक सुख–समृद्धि एवं भौतिकेतर लक्ष्य को प्राप्त करता है।

---

1 . ओल्डेनबर्ग, रिलि० देस् वेद, भाग–2–पृष्ठ–456
2 आरिशे रिलिगियोन–द्वितीय–388, 390

सोमयज्ञ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

श्रौतकर्मकाण्डों से सम्बद्ध सोमयाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यज्ञ के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस याज्ञिक कृत्य से प्राप्त होने वाला अभीष्ट फल यजमान के लिये उद्दीपक का कार्य करता है, उसी फल की प्रेरणा से यजमान सोमयज्ञ का सम्पादन करता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी प्रेरणा (Motivation) को मुख्य विषय के रूप में स्वीकार करता है।[1] आधुनिक मनोविज्ञान प्रेरणा (Motivation) को इस प्रकार परिभाषित करता है–"**Motivation is broadly viewed, it is the problem of determining the for as which impel or incite and living organism to action.**"[2] सोमयाग में पशुयाग भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है, जिससे यजमान देवों से भावनात्मक सानिध्य स्थापित करता है और देव अपने स्तुतिकर्त्ता का कल्याण करते हैं। सोमयज्ञ के सम्पादन के पूर्व पुरोहित का वरण होता है, क्योंकि इस कृत्य में पुरोहित का ज्ञानसम्पन्न, विवकेशील, संकल्प–शक्ति से परिपूर्ण एवं सात्त्विक गुणों से सम्पन्न होना चाहिये, जिससे उनकी मनः स्थिति स्थिर हो सकें तथा सम्यक् वैचारिक मंथन करके यजमान को उद्देश्य की प्राप्ति करा सकें। इस याज्ञिक कृत्य में सोम को अत्यन्त सुव्यवस्थित विधि से अलंकृत करके गाड़ी (शकटी) पर ले जाते है तथा इन्द्र को सोमपान के लिये आमंत्रित करते हैं। प्रायः किसी व्यक्ति को भोज पर आमंत्रित करते समय भोज्य–पदार्थ को व्यवस्थित करके दिया जाता है, जिससे व्यक्ति भोजन ग्रहण करके मनसा उस व्यक्ति के प्रति उद्‌गार व्यक्त करता है। इस प्रकार इन्द्र तो एक देव के रूप में हैं, उनके प्रति किया गया सम्मान–भोज उनके मनःस्थिति को यजमान के कल्याण करने हेतु भावनात्मक रूप से विवश कर देता है। इससे ज्ञात होता है कि सोमयज्ञ के माध्यम से ऋत्विक् एवं देवता के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध

---

1. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोष–निर्मला शेरजंग
2. B.L.W. Psychology, P-12.

(interpersonal relationship) विकसित होता है। "Interpersonal relationship"[1] का उद्बोधन मनोविज्ञान भी करता है। वस्तुतः इस कृत्य में इसी क्रम में अतिथियज्ञ का सम्पादन होता है। कुछ स्थानों पर सोमयाग को वर्षा के अभिचार के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। सामान्यतः सोमलताओं का सवन करके उसके रस को अखंडित धारा के रूप में पात्र विशेष में गिराना वर्षा के भाव को प्रकट करता है। सोमयाग को सामान्य क्रम में वृष्टि लाने वाला यज्ञ स्वीकार किया जाता है, क्योंकि इस यज्ञ के सांकेतिक संवेग एवं यजमान तथा पुरोहितों के द्वारा सम्पन्न होने वाले कृत्य से देवगण संतृप्त हो जाते हैं। सोमयाग से संतृप्त देवगण हृदय एवं मन से भावनात्मक सम्बन्ध को यजमान एवं पुरोहितों से संयुक्त करके ,उनके मनोनुकूल भावनाओं या अभीष्ट लक्ष्य को जलवृष्टि या किसी अन्य रूप में अपने कल्याणकारी आशीर्वाद से सिद्ध करते हैं।

1. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोष--निर्मला शेरजग

प्रवर्ग्य

प्रवर्ग्य या उष्ण–दुग्ध से सम्बद्ध यज्ञ को सोमयज्ञ की परम्परा में स्वीकार किया जाता है। इस यज्ञ को प्रत्येक उपसद् दिवसों में दो बार सम्पादित किया जाता है। सामान्यतः तीन उपसद, दिवसों में संख्या की दृष्टि से छह यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं। प्राथमिक क्रम में यह कृत्य एक पृथक् यज्ञ था, जिसमें मात्र प्रातःकाल में एक बलि प्रदान की जाती थीं। यज्ञ के प्रारम्भ में आहवनीयाग्नि के पूर्व दिशा में किसी स्थान से कुछ मृत्तिका निकालकर उस मिट्टी को भलीभांति जल में मिश्रित करके कुछ ऊँचा अर्थात् एक बालिश्त ऊँचा महावीर पात्र निर्मित किया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य पात्र भी निर्मित किये जाते हैं। पात्रों को व्यवस्थित करने के लिये कुश की एक वेदी निर्मित की जाती है। पात्रों को भलीभांति गर्म करके उसमें गाय एवं बकरी का दुग्ध मिश्रित किया जाता है। अश्विनौ को उष्णपेय समर्पित करते हैं एवं रौहिण पुरोडाश प्रातः, सायं एवं रात्रि काल में समर्पित किया जाता है। कृत्य के प्रारम्भ में यजमान की पत्नी भी अपने सिर पर वस्त्र रखकर, इस कृत्य में सम्मिलित अन्य सदस्यों के साथ याज्ञिक कृत्य के साम गान में सुर मिलाती हैं। बलिपात्रों को मनुष्याकृति में रखा जाता है। इस यज्ञ में यजमान एक वर्ष तक निषिद्ध वस्तुओं को ग्रहण नही करता है एवं अन्य स्त्रियों से समागम भी नही करते है। प्रायः इस कृत्य में एक वर्ष पूर्व से ही यजमान को इस यज्ञ के विधि में निर्धारित नियमों का अनुपालन करना चाहिये। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है –"इस कृत्य के फलस्वरूप यजमान को नवीन शरीर प्राप्त होता है"।[1]

अब इस याज्ञिक कृत्य में यज्ञीय पात्रों को स्वर्णपात्र से आवृत कर देते हैं, जिससे वह अग्नि एवं सूर्य के भांति प्रकाशित होता है। वस्तुतः यज्ञकर्त्ता उष्ण दुग्धपान करके सूर्य के सदृश ऊर्जा प्राप्त करता है। इस कृत्य में अश्विनौ

1. ऐतरेय ब्राह्मण–1/22/14, (वैदिक धर्मदर्शन–हिन्दी अनुवाद, डा0 सूर्यकान्त, पृष्ठ–412)

को भी आहुति समर्पित की जाती हैं। "जब एक बार यह कृत्य अपनी सत्ता में आ गया तो प्रातःकाल के संदेशवाहक अश्विनौ के लिये दुग्ध समर्पण का विचार स्वाभाविक है।[1]

वस्तुतः इस यज्ञ को सम्पादित करने के पीछे यह विचार अभिव्यक्त किया जा सकता है कि पात्र सूर्य है, दुग्ध जीवन एवं प्रकाश दिव्य–पुञ्ज है, इसी दिव्यता के प्राप्ति हेतु यजमान यज्ञ को सम्पादित करता है। "जिस प्रकार सूर्य ब्रह्माण्ड का शीर्ष है, उसी प्रकार पात्र यजमान का शीर्ष है। यह कृत्य यजमान एवं ब्रह्माण्ड दोनो को समान रूप से शीर्ष प्रदान करता है।"[2] वस्तुतः प्रवर्ग्य को सम्पादित करने से मस्तिष्कीय प्रोन्नति एवं तैजस् की प्राप्ति होती है, जिससे यजमान अपने विविध भौतिक एवं आध्यात्मिक लक्ष्यों की सम्प्राप्ति करता है।

---

1. ओलडेनबर्ग, रिलि0 देस वेद, भाग दो पृष्ठ–448
2. वैदकि धर्म–दर्शन, भाग दो, डा0 सूर्यकान्त, पृ0–413

प्रवर्ग्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

श्रौतयज्ञों से सम्बद्ध प्रवर्ग्ययाग सोमयज्ञों की परम्परा में सम्पादित किया जाने वाला कर्मकाण्डीय कृत्य है। इस याज्ञिक कृत्य को सम्पादित करने के लिए यजमान एवं पुरोहित को नियम–संयम के अनुपालन करने के साथ ही अपनी स्वाभाविक मूलप्रवृत्तियों को भी अवरूद्ध करना पड़ता है, यथा–कामुकता का त्याग, भोजन पर नियन्त्रण, क्रोध, शोक, मोह इत्यादि मूलप्रवृत्तियों को संयमित किया जाता है। मनोविज्ञान में भी मूलप्रवृत्तियों को स्वीकार किया जाता है। मूल प्रवृत्तियों के सँनियमन से व्यक्ति के अन्तः में पुरूषार्थ विकसित होता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है कि क्रोध (Anger), भय (Fear), चिंता (Anxiety) इत्यादि मूलप्रवृत्तियाँ (instincts) व्यक्ति के शरीर में संवेगात्मक व्यवहार उत्पन्न करती हैं।

संवेग (Emotion) के विषय में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक पी0टी0 यंग का कथन है– **"An acute disturbance of the individual as a whole Psychological in origin, involving behaviour, conscious experience & visceral functioning"**[1]

इस प्रकार प्रवर्ग्य–कृत्य में यजमान एवं पुरोहितों को काम, क्रोध, शोक एवं मोह आदि मूलप्रवृत्तियों का परित्याग करना पड़ता है, अन्यथा संवेगात्मक व्यवहार या मन के विचलित व्यवहार से इस कृत्य में व्यवधान उत्पन्न होता है और अभीष्ट की प्राप्ति असम्भव हो जाती हैं।

इस कृत्य के फलस्वरूप यजमान को नवीन शरीर प्राप्त होता है। इसी अभीष्ट फल की प्राप्ति हेतु यजमान याज्ञिक क्रिया का सम्पादन करता है। अभीष्ट फल से सम्बद्ध क्रिया को मनोविज्ञान में प्रेरणा के रूप में स्वीकार किया

---

1. P.T. Young, Emotion in Man & animal 1943-p-60

जाता है– **"A motive is any particular internal factor or condition that to initiate and to sustain activity".**[1]

वस्तुतः इस कृत्य से प्राप्त होने वाला अभीष्ट फल यजमान के अन्तः में प्रेरणा का संचार करके उसे प्रवर्ग्य कृत्य को सम्पन्न करने के लिये विवश करता है। इस कृत्य में बहुत सी क्रियायें सांकेतिक क्रम में सम्पन्न होती हैं, यथा–यजमान स्वर्णपात्र में उष्ण–दुग्ध का पान करके सूर्य के भाँति ऊर्जा प्राप्त करता हुआ प्रकाशित होता है। इस विषय पर भी मनोवैज्ञानिक चिंतन प्राप्त होता है कि जब कोई व्यक्ति सांकेतिक रूप से किसी कर्म को सम्पादित करता है तो उसके अन्तःकरण में आत्मिक–शक्ति का प्रवर्द्धन या विकास होना स्वाभाविक प्रक्रिया है। इस प्रकार प्रवर्ग्य में सम्पादित किये जाने वाले सांकेतिक पूजन से ऋत्विक् के अन्तः में आत्मिक–शक्ति का प्रवर्द्धन होता है।

---

1. J.P. Guilford, General Psychology-1956, p-91.

ऐकादशिन पशुयाग

ऐकादशिन पशुयाग को अग्निष्टोम में सम्पन्न किये जाने वाले अनुष्ठान से सम्बद्ध किया जा सकता है, परन्तु अग्निष्टोम में एक बलिपशु के स्थान पर ऐकादशिन में एकादश बलिपशु के प्रयोग को प्राथमिकता दी जाती है। इस याज्ञिक कृत्य में एकादश बलिपशु के लिये तेरह यूपों की भी व्यवस्था की जाती है। इस कृत्य में प्रत्येक पशुबलि का सम्पूर्ण विधान अत्यन्त विस्तृत होता है, अतः इसमें सम्पन्न किये जाने वाले याज्ञिक कृत्य सामूहिक क्रम में किये जाते हैं, यथा–'प्रयाज आहुति' प्रत्येक पशु–कृत्य में पृथक्–पृथक् न देकर सामूहिक रूप से प्रदान करने की व्यवस्था करते हैं। इस याज्ञिक कृत्य में "बारहवाँ उपचय नामक यूप गाड़ा नही जाता है। तेरहवें को पर्व के अन्त में एक बलि के लिये पात्नीवत् के नाम से रख लिया जाता है। सबसे मध्य का यूप अग्नि के निकट रखा जाता है, वस्तुतः ऊँचाई उत्तर से दक्षिण की ओर बढ़ती है। उपयच नामक यूप को चारो ओर से दो सूत्रों के माध्यम से घेरकर बाँध देते है और शत्रु पर अभिशापों के साथ दक्षिणी यूप पर रख देते हैं। अग्नि को समर्पित किये जाने वाले बलिपशु को केन्द्रीय यूप से सन्निबद्ध करते है, इसके उत्तर में सरस्वती के लिए भेंड़ को, दक्षिण में सोम के लिये बकरे को, दक्षिण में वरूण के लिये बलिपशु के साथ अन्त करते हुये, उपचय नामक यूप के साथ छछुन्दर बलिपशु को बाँधते हैं। अनुबन्ध्या गौ की वपा की बलि प्रदान करने के उपरान्त पात्नीवत् नामक यूप पर त्वष्टृ के लिये एक बलि की योजना बनाते है, परन्तु बलिपशु को गरडे रंग का ईषद्रक्त का कपिश वर्ण का होना चाहिये, अब अग्नि की परिक्रमा के उपरांत उसे मुक्त कर दिया जाता है। इसके स्थान पर घृत को ग्रहण करने के साथ ही दशम आहुति समर्पित करने पर ऐकादशिन पशुयाग सम्पन्न हो जाता है"।[1]

वस्तुतः इस यज्ञ को सम्पादित करने के पीछे अग्निष्टोम कृत्य के सदृश उद्देश्य रहता है। इस कृत्य का अग्निष्टोम से मूलभूत अन्तर यही है कि ऐकादशिन पशुयाग में एक बलि पशु के स्थान पर ग्यारह बलिपशु को प्रयोग में लाया जाता है।

ऐकादशिन कृत्य को सम्पादित करने से यजमान देवों के सानिध्य को प्राप्त करता है। देवकृपा के माध्यम से विविध सांसारिक उपद्रवों से स्वयं को सुरक्षित करता हुआ, विविध सांसारिक सुख, स्वार्गिक आनन्द एवं पारलौकिक मार्ग को प्राप्त करता है।

---

1. वैदिक धर्म दर्शन–भाग दो, हिन्दी अनुवाद–डा0 सूर्यकान्त–पृष्ठ–413–414

ऐकादशिन पशुयाग का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

ऐकादशिन पशुयाग अग्निष्टोम परम्परा में होने वाले कर्मकाण्डों का ही स्थान ग्रहण कर लेता है, यह कृत्य श्रौतयज्ञों से सम्बद्ध है। इस याज्ञिक कृत्य में देवताओं को पशुबलि प्रदान की जाती है, जिससे उनको सन्तुष्ट करके अपने जीवन के विभिन्न लक्ष्य प्राप्त किये जा सकते हैं। वस्तुतः मनोविज्ञान के अनुसार किसी व्यक्ति को दिव्य–भोज कराकर उसके मन एवं हृदय को प्रभावित किया जा सकता है, क्योंकि संतुष्ट हुआ व्यक्ति संतुष्ट करने वाले के प्रति अत्यन्त उदार हो जाता है। इसी प्रकार ऐकादशिन पशुयाग में देवों को 11 पशुओं की बलि प्रदान करते हुये, उनका सहभोज प्राप्त करके, उनके सानिध्य में पहुँचकर, देवों की कृपादृष्टि सरलता से प्राप्त की जा सकती हैं। इस कृत्य से प्राप्त होने वाला अभीष्ट फल यजमान में प्रेरणा (Motivation) .का संचार करता है। इस कृत्य में पशुबलि देने के कारण यजमान एवं पुरोहित में घृणा–भाव उत्पन्न हो सकता है, परन्तु मन्त्रशक्ति से यजमान की मनःस्थिति सुनियन्त्रित हो जाती है, क्योंकि कल्याणकारी उद्देश्यों से किये जाने वाले कृत्य में घृणित–भाव उत्पन्न होने पर भी मनःस्थिति सामान्य रहती हैं, "यथा–एक चिकित्सक शल्य–क्रिया के समय स्थिर एवं सामान्य रहता है"। इस कृत्य में स्वच्छता एवं एकाग्रता की स्थिति भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि स्वच्छता एवं एकाग्रता के अभाव में व्यक्ति का चंचल मन उद्विग्न होकर सम्पूर्ण याज्ञिक कृत्य को बाधित कर सकता है। मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है कि यदि कोई तथ्य सुव्यवस्थित नही है, तो व्यक्ति में कार्य के प्रति रूचि उत्पन्न नहीं होगी, बिना रूचि के एकाग्रता असम्भव है। रूचि एवं एकाग्रता के विषय में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक डब्ल्यू मैगडोगल का कथन इस प्रकार है– **" Interest is latent attention, attention is interest in action"** [1]

इस प्रकार इस कृत्य में रूचि एवं एकाग्रता अनिवार्य विषय है। यजमान के अन्तःकरण में इन शक्तियों का आविर्भाव मंत्रशक्ति एवं अभीष्ट फल की प्रेरणा (Motivation) से ही सम्भव हो पाता है। प्रेरणा (Motivation) [2] को मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है। प्रेरणा के सन्दर्भ में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक जे० पी० गिलफोर्ड का कथन इस प्रकार है–**"A Motive is any particular internal factor or condition that to initiate and to sustain activity."**[3]

इस प्रकार "ऐकादशिन पशुयाग" मनोवैज्ञानिकता से परिपूर्ण है।

---

1. शिक्षा मनोविज्ञान–डा० एस० एस० माथुर–पृष्ठ–294
2. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश–निर्मला शेरजंग
3. J.P. Guilford, General Psychology, 1956, p-91.

ज्योतिष्टोम यज्ञ

श्रौतकर्मकाण्ड से सम्बद्ध ग्रन्थों में ज्योतिष्टोमयाग समूह के पूर्व 'अग्निष्टोम' नामक यज्ञ सम्पादित किया जाता है। सामान्यतः ज्योतिष्टोम में भी सोमयज्ञों की परम्परा में आने वाले समस्त यज्ञ किसी न किसी रूप में प्रस्फुटित होते हैं। प्रायः ज्योतिष्टोम यज्ञ पाँच दिन तक सम्पादित किया जाता है। यज्ञ के प्रथम दिवस पर पुरोहितों का चयन महत्त्वपूर्ण है। पुरोहितों के चयन के उपरांत वहाँ पर उपस्थित सदस्यों के मध्य मधुपर्क वितरित किया जाता है। यज्ञ से सम्बद्ध समस्त प्रारम्भिक व्यवस्था सम्पन्न हो जाने के उपरांत दीक्षणीयेष्टि एवं दीक्षा से सम्बन्धित कृत्य किये जाते हैं। यज्ञ के द्वितीय दिवस पर प्रायणीया इष्टि की जाती हैं। अब सोम का क्रय करके उसे यज्ञ स्थान पर व्यवस्थित करके सोम को आतिथ्य प्रदान करने से सम्बद्ध आतिथेयेष्टि सम्पन्न करते हैं। समस्त प्रारम्भिक व्यवस्था हो जाने के उपरांत प्रवर्ग्य अर्थात् उष्ण दुग्धपान एवं उपसद् से सम्बद्ध कृत्य किये जाते हैं। चतुर्थ दिवस के कृत्य क्रमशः इस प्रकार है—उपसद, अग्निप्रणयन, अग्निषोमप्रणयन, हविर्धानप्रणयन एवं पशुयज्ञ सम्पादित किया जाता है। ज्योतिष्टोम यज्ञ के पंचम दिवस को सुत्य या सवनीय का दिवस कहा जाता है। यज्ञ के सवनीय दिवस पर सोमलताओं का सवन करके उसके रस को यज्ञ से सम्बद्ध देवों को समर्पित करके स्वयं भी सोमपान किया जाता है। सोमरस का देवों के प्रति समर्पण एवं सोमपान से सम्बद्ध कृत्य प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल तक चलता रहता है। ज्योतिष्टोम यज्ञ के समापन पर उदयनीया या अन्तिम इष्टि की जाती है। इस यज्ञ के पूर्णतः सम्पन्न हो जाने पर अवभृथ या जलस्नान के द्वारा शुद्धता प्राप्त की जाती हैं। सोमयज्ञों के अन्तर्गत ज्योतिष्टोम के सम्पादन से यजमान को भौतिक सुख—समृद्धि के साथ—साथ देव—सानिध्य भी प्राप्त होता है।

ज्योतिष्टोम यज्ञ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

श्रौतकर्मकाण्ड से सम्बद्ध ज्योतिष्टोमयाग भी सोमयाग की परम्परा में आने वाला अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यज्ञ है। इस यज्ञ से प्राप्त होने वाला अभीष्ट फल यजमान के अंतःकरण में उत्तेजना का संचार करके उसे इस कृत्य को सम्पादित करने के लिये प्रेरित करता है। प्रेरणा के सन्दर्भ में आधुनिक मनोविज्ञान का कथन इस प्रकार है– **"A motive is any particular internal factor or condition that to initiate and to sustain activity".**[1] इस याज्ञिक कृत्य में यजमान के मानस–मण्डल में अवधान का लक्षण होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, अन्यथा याज्ञिक कार्य विफल हो सकता है। अवधान से यज्ञकर्त्ता अन्य समस्त बिन्दुओं से अपना ध्यान हटाकर इस कृत्य के प्रत्येक चरण में स्वयं को एकाग्रचित्त रखता है। अवधान के विषय में आधुनिक मनोविज्ञान के प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक मैकडोगल का कथन इस प्रकार है– **"Interest is latent attention, attention is interest in action."**[2]

ज्योतिष्टोम यज्ञ का आधुनिक मनोविज्ञान से तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि इस कृत्य के फल प्राप्ति से ही यजमान प्रेरित होता है, प्रेरित होने से रूचि उत्पन्न होती है, रूचि से ही विषय एवं प्रक्रिया के प्रति अवधान एवं एकाग्रता उत्पन्न होती है, जिससे यजमान एवं पुरोहित अपने लक्ष्य को प्राप्त करते हैं।

इस याज्ञिक कृत्य में यजमान की सहज मूलप्रवृत्ति–भुभुक्षा, पिपासा एवं निद्रा इत्यादि याज्ञिक संविधान के अनुसार संचालित होती हैं। इस याज्ञिक कृत्य में विभिन्न देवों को बलि एवं सोमरस समर्पित करके यजमान एवं पुरोहित देवों के मर्मस्पर्शी हृदय को अपने मनोनुकूल विषयों से सम्बद्ध करते हैं।

---

1. J.P.-Guilford, Geneıal Psychology-1956-P-91
2. शिक्षा मनोविज्ञान, डा0 एस0 एस0 माथुर–पृष्ठ–294

वाजपेय यज्ञ

वाजपेय का शाब्दिक अर्थ है 'शक्तिवर्धक पेय' या 'शक्तिवर्धक पेय की सम्प्राप्ति' या लक्ष्य को प्राप्त करना है। वाजपेय की परिगणना सोमयाग के अन्तर्गत होती है। इस यज्ञ के सम्पादन से भोजन एवं शक्ति इत्यादि की प्राप्ति होती है। इसमें भी षोडशी विधि पायी जाती है एवं ज्योतिष्टोम के सदृश है, परन्तु अपने कुछ विशेषताओं एवं विलक्षणताओं से पृथक् प्रकार का सोमयज्ञ है। "इस यज्ञ में सत्रह की संख्या का विशेष महत्त्व है। वाजपेय में स्तोत्रों एवं शस्त्रों की संख्या सत्रह है। प्रजापति के लिए सत्रह पशुओं की बलि होती है, दक्षिण में सत्रह वस्तुयें प्रदान की जाती हैं, यूप में जो वस्त्र बांधा जाता है, वह भी सत्रह भागों वाला होता है एवं यह सत्रह दिन तक सम्पादित होने वाला विशिष्ट यज्ञ है। इसमें प्रजापति के लिये सत्रह प्यालियाँ सुरा से परिपूर्ण रहती हैं और इसी प्रकार सत्रह प्यालियों में सोमरस भी रखा जाता है, इसमें सत्रह रथ होते हैं। वेदी के उत्तरी श्रोणी पर सत्रह ढोलक रखी जाती है, जो एक साथ बजायी जाती हैं।[1]

"यह विशिष्ट कृत्य उसके द्वारा सम्पन्न किया जाता था ,जो आधिपत्य या समृद्धि या स्वराज्य की अभिलाषा रखता था।"[2] यह कृत्य शरद् ऋतु में होता था। इसको ब्राह्मण या क्षत्रिय ही कर सकते थें।[3] इस यज्ञ में सभी पुरोहित, यजमान एवं यजमान की पत्नी स्वर्ण की श्रृंखला (जंजीर) धारण करते है। पुरोहितों की स्वर्ण–श्रृंखला (जंजीर) उनकी दक्षिणा स्वरूप हो जाती है। इसके अन्तर्गत अग्नि, इन्द्र एवं इन्द्राग्नि के लिये जो भी पशु दिये जाते हैं, उनके अतिरिक्त मरूतों के लिये बन्ध्या गाय, सरस्वती के लिये एक भेड़, तथा प्रजापति के लिये श्रृंगविहीन एक रंग वाली या श्यामवर्ण की सत्रह पुष्ट बकरियॉ प्रदान

---

1. आप० श्रौ० सूत्र–18/1/5, ताण्ड्य–18/7/5, आश्व० 9/9/2–3, आप० श्रौ० सूत्र–18/4/4
2. आश्व० श्रौत० सूत्र–9/9/1, आपस्तम्ब श्रौ० सूत्र–18/1/1
3. कात्यायन श्रौ० सूत्र–14/1/1 एवं आपस्तम्ब श्रौ० सूत्र–18/1/1

की जाती है।[1] अब इस कृत्य में प्रतिप्रस्थात् हविर्धान के दक्षिणी धुरे के पश्चिमी पार्श्व में एक उच्च स्थान को व्यवस्थित रूप से निर्मित करता है, जिस पर विभिन्न ओषधियों से बने हुये आसव (विशेष प्रकार का ओषधियुक्त रस) की सत्रह प्यालियों को स्थापित करता है। आसव पात्रों के मध्य में एक स्वर्ण–पात्र में मधु रखा जाता है। "मध्याह्नकालीन सोमरस निकालने के समय रथों की दौड़ करायी जाती है।"[2] इसमें उस धावन का संकेत है, जिससे बृहस्पति की विजय हुयी थी। जब दौड़ प्रारम्भ होती है, तो "ब्रह्मा सत्रह अरों वाला एक पहियॉ ,रथ की धुरी में लगाकर उसपर इस मंत्रोच्चारण के साथ चढ़ता है–'सविता देव की उत्तेजना पर मै वाज (शक्ति, भोजन की दौड़) जीत लूँ" ।[3]

यजमान मंत्राभिषिक्त रथ पर बैठता है एवं अध्वर्यु ,यजमान से वैदिक मंत्रोच्चारण कराने के लिये उसके साथ बैठ जाता है। अन्य लोग दौड में भाग लेने के लिये अवशिष्ट सोलह रथों में बैठ जाते है। सोलह में से किसी एक रथ में क्षत्रिय या वैश्य बैठ जाते हैं। सत्रह ढोलकों के बजने के साथ दौड़ प्रारम्भ हो जाती हैं। बृहस्पति के लिये सत्रह पात्रों में पकाये गये चावल के चरू को सभी अश्वों को सूंघाया जाता है। सबसे आगे यजमान का मंत्राभिषिक्त रथ होता है। यजमान ,अध्वर्यु के कथनानुसार इस विजय मंत्र का उच्चारण करता है–"अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत्तमुज्जेषमश्विनौ" ।[4] एक निश्चित लक्ष्य तक पहुँच जाने पर सभी रथ उत्तर दिशा पर पहुँचने के उपरांत दक्षिणाभिमुख हो जाते हैं। सभी रथ पुनः यज्ञस्थल पर पहुँच जाते हैं। सभी अश्वों को (नीवार) जंगली चावल का चरू सुँधाया जाता है, अब दुन्दुभि के ध्वनि के साथ होम किया जाता है। रथ में बैठे हुये सभी लोगों को स्वर्णखंड का एक–एक छोटा भाग दे दिया जाता है, जिसे वे पुनः लौटा देते हैं, परन्तु स्वर्ण–खण्ड रूपी इन बेरों को ब्रह्मा स्वीकार (ग्रहण) कर लेता है।

---

1. आपस्तम्ब श्रौत सूत्र–18/2/12–13
2. आप0–18/3/3 एव 12–14
3. आप0–18/4/8, कात्यायन0–14/3/13, वाजसनेयी सहिता–9/90
4. शुक्लयजुर्वेद–9/31

अब स्वर्णपात्र में रखा हुआ मधुपात्र भी ब्रह्मा को दे देते हैं। इसके उपरांत सोमपात्र स्वीकार किया जाता है। अध्वर्यु होतृ–चमस को स्वीकार करता हुआ अन्य सम्बन्धित कृत्य सम्पादित करता है। वाजपेय यज्ञ सम्पादित करने के उपरांत यजमान, क्षत्रिय के सदृश व्यवहार करता है अर्थात् वह अध्ययन एवं दान कर सकता है, परन्तु अध्यापन एवं दान स्वीकार नही कर सकता। इसके उपरांत क्षत्रिय अभिवादन के लिये स्वयं खडा नहीं होता, न ही ऐसे लोगो के साथ आसन पर बैठ सकता है, जिन्होंने वाजपेय यज्ञ को सम्पादित नही किया है। वस्तुतः वाजपेययाग सम्पादित करने के उपरांत यजमान का व्यक्तित्त्व उच्च कोटि का हो जाता है। आश्वलायन के अनुसार "दक्षिणा के रूप में 1700 गायें, 17 रथ, 17 घोड़े, पुरूषों के चढने योग्य17 पशु, 17 बैल, 17 गाड़ियाँ, सुनहरे परिधानों से सजे 17 हाथी प्रदान किये जाते है। ये वस्तुयें पुरोहितों में योग्यतानुसार वितरित कर दी जाती हैं"।[1]

आश्वलायन के अनुसार "वाजपेय के सम्पादन के उपरांत राजा को राजसूय यज्ञ करना चाहिये एवं ब्राह्मणों को बृहस्पतिसव करना चाहिये।"[2] सामान्यतः ऐसे सोमयज्ञ, जो एकाह कहे जाते हैं, यथा–अग्निष्टोम एकाह से प्रचलित सोमयज्ञों के अन्तर्गत एक दिवस में क्रमशः प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल में सोमपान किया जाता है। वस्तुतः वाजपेय यज्ञ सोमयज्ञ की परम्परा में आने वाला यज्ञ है, इसको सम्पादित करने के पीछे मूलभूत उद्देश्य यही कहा जा सकता है कि इससे राजसिक सत्ता अथवा साम्राज्य की प्राप्ति, समृद्धि एवं जीवन में निर्विरोध सत्ता की प्राप्ति होती हैं। सामाजिक जीवन में मनुष्य की अभिलाषाओं की पूर्ति वाजपेययज्ञ से सम्भव है। यह मनुष्य को सम्पूर्ण सांसारिक सुख–समृद्धि एवं ऐश्वर्य प्रदान करता है, परन्तु इसमें ब्राह्मण या क्षत्रिय ही यज्ञ का सम्पादन कर सकते हैं।

---

1. आश्व0 9/9/14–17
2. आश्व0 9/9/19

वाजपेय यज्ञ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

श्रौतकर्मकाण्ड से सम्बद्ध वाजपेय एक महत्त्वपूर्ण यज्ञ है। यह कृत्य सोमयाग की परम्परा के अन्तर्गत आता है। वाजपेय यज्ञ से प्राप्त होने वाला अभीष्ट फल यजमान में प्रेरणा का संचार करता है, जिससे यजमान अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार "व्यक्ति को व्यवहार एवं कार्य करने के लिये उत्तेजित करने वाली शक्ति प्रेरणा है।"[1] इसी प्रेरणा शक्ति के आधार पर यजमान वाजपेय यज्ञ का सम्पादन करता है और इससे प्राप्त होने वाला फल, यथा–राजसिक सत्ता, साम्राज्य एवं समृद्धि इत्यादि की प्राप्ति करता है। वाजपेय यज्ञ भी सोमयाग की परम्परा से सम्बद्ध है, क्योंकि इसमें भी सोमरस एवं देवों के लिये सोमपान की व्यवस्था की जाती हैं। वस्तुतः सोमयाग का निदर्शन वाजपेययाग में प्रत्यक्षीकरण की क्रिया के द्वारा होता है, जिससे याज्ञिक क्रिया का स्वरूप अधिक सुनिश्चित एवं मार्गपरक हो जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार–**"Perception is the process of getting to know of objects and objective facts by use of the senses.[2]"**

इस कृत्य में सोमरस निकालने की प्रक्रिया, अश्वों को सविता देव की उत्तेजना पर दौड़ाया जाना भी प्रेरक एवं प्रेरणा से ही सम्बद्ध है। 'वाजपेययाग एक गतिप्रधान अर्थात् राजसिक गुणवृद्धि करने वाला यज्ञ है। इसमें यजमान की मनोवृत्ति ब्राह्मण होने पर भी क्षत्रिय के समान हो जाती है। इस क्रिया को आधुनिक मनोविज्ञान व्यक्तित्त्व के विषय से परिभाषित करता है–

"Personality is not of course a sum of aspects or traits, but a part of a dynamic organisms".[3]

---

1. A motive is any particular factoı oı condition that to initiate and to sustain activity-J.P. guilfoıd, General Psychology-1956-page no-91.
2. Woodwarth & Marquish Psychology 1955-P.N.402
3. Peteıson, Ed, Psychology, P-377.

इस प्रकार याज्ञिक कृत्य के समय में घटित होने वाली क्रियायें, यजमान के मनोवृत्ति अर्थात् व्यक्तित्त्व में परिवर्तन उत्पन्न करती हैं। वाजपेययाग से यजमान को शक्तिवर्धक–पेय प्राप्त होता है, उसी से वह अपने अभीष्ट की प्राप्ति करता है। पुनः 'वाजपेययाग' व्यक्ति के शरीर में सामर्थ्य उत्पन्न करके, उसकी मनःशक्ति को राजसूय यज्ञ के चिंतन के लिये प्रेरित करता है।

वाजपेय यज्ञ में पुरोहितों को अत्यधिक दक्षिणा प्रदान किया जाता है। वस्तुतः अत्यधिक दान की संकल्पना का कोई तार्किक एवं उपयुक्त मनोवैज्ञानिक आधार प्राप्त नही होता है, परन्तु यहाँ पर यजमान,.पुरोहित एवं इस याज्ञिक कृत्य के मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन करने पर यह कहा जा सकता है कि यजमान इस कृत्य से एक विशाल साम्राज्य की कामना करता है एवं इस कृत्य को सम्पादित करने में पुरोहितों का भी प्रशंसनीय योगदान होता है। यह योगदान तभी प्राप्त किया जा सकता है, जबकि पुरोहितगण तन्मयता, प्रसन्नता, एकाग्रता, एवं सात्विक प्रवृत्ति से यज्ञ का सम्पादन करें, इसीलिये पुरोहितों को अधिक मात्रा में दक्षिणा प्रदान किया जाता है, जिससे पुरोहितगण इस महत्त्वपूर्ण यज्ञ को एकाग्रता एवं रूचि के साथ सम्पन्न करें।

आधुनिक मनोविज्ञान भी रूचि एवं अवधान को इस प्रकार परिभाषित करता है–**Interest is latent attention, attention is interest in action".**[1]

इस प्रकार इस याज्ञिक कृत्य में पुरोहितगणों को दान या उपहार देने की परम्परा का उपुर्यक्त मनोवैज्ञानिक आधार युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

---

1. शिक्षा मनोविज्ञान–डा0 एस0 एस0 माथुर पृष्ठ–294

राजसूय यज्ञ

''राजसूय'' अत्यन्त क्लिष्ट एवं जटिल याज्ञिक प्रक्रिया है। राजसूय की परिगणना सोमयाग में की जा सकती है, परन्तु यह पूर्णतः सोमयाग नहीं है। राजसूय यज्ञ की अवधि का निश्चित रूप से निर्धारण तो नहीं किया जा सकता है, परन्तु 2 वर्ष से अधिक अवधि तक इसे सम्पादित किया जाता है।

सामान्य स्वीकृति के अनुसार यह क्षत्रियों के द्वारा सम्पादित किया जाने वाला यज्ञ है, किन्तु कात्यायन के अनुसार ''जिसने वाजपेय यज्ञ न किया हो, वही व्यक्ति इस यज्ञ को सम्पादित करे।''[1] कतिपय अन्य लोगों के अनुसार ''वाजपेय यज्ञ के उपरांत ही राजसूय सम्पादित करें।''[2] शतपथ ब्राह्मण के कथनानुसार ''राजसूय यज्ञ करने से मनुष्य राजा होता है एवं वाजपेय यज्ञ करने से सम्राट, इसलिये पहले राजसूय एवं तब वाजपेय यज्ञ करें।''[3] यजमान फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की तिथि पर पवित्र सोमयज्ञ के लिये दीक्षा ग्रहण करता है। राजसूय में 'अभिषेचनीय' एक मुख्य कृत्य है, इसे 'पवित्र–यज्ञ' सम्पादित करने के एक वर्ष उपरांत करते हैं।[4] जब पवित्र यज्ञ सम्पादित हो जाता है, तो पाँच दिन तक एक–एक करके पाँच आहुतियाँ दी जाती है। फाल्गुन की पूर्णिमा को अनुमति के लिये एक पुरोडाश दिया जाता है, इसके उपरांत अन्य कृत्य सम्पादित किये जाते हैं।[5] फाल्गुन की पूर्णिमा पर चातुर्मास्य किया जाता है, यह एक वर्ष तक चलता है। चातुर्मास्य के मध्य पूर्णिमा एवं अमावस्या को मासिक यज्ञ किया जाता है। इसके उपरांत 'पञ्चवातीय'[6] एवं अपामार्ग[7] होम होता है। इसके उपरांत बारह आहुतियाँ दी जाती है, ये ''रत्निनां हवीषिं'' के रूप में प्रचलित हैं। आहुतियों का यह क्रम एक–एक करके बारह दिन तक चलता है''।

---

1 कात्यायन श्रौतसूत्र 15/1/2
2. आवश्लायन श्रौतसूत्र 9/9/19
3. शतपथ ब्राह्मण 9/3/4/8 (राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति सम्राड्वाजपेयेन)
4. लाट्यायन श्रौतसूत्र 9/1/4
5. कात्यायन श्रौतसूत्र 15/1/9, आप० 18/8/10
6. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 18/9/10–11
7. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 18/9/15–20

ये आहुतियाँ (रत्निनां हवींषि) यजमान, उसकी रानियों एवं राजकीय कर्मचारियों के घर में दी जाती हैं''।[1] इन समस्त कृत्यों के उपरांत 'अभिषेचनीय' कृत्य प्रारम्भ होता है। अभिषेचनीय कृत्य का राजसूय यज्ञ में मुख्य स्थान है। यह पंचदिवसीय कृत्य चैत्रमास के प्रथम दिवस पर सम्पादित किया जाता है। 'अभिषेचनीय' यज्ञस्थल के दक्षिणी दिशा में तथा 'दशपेय कृत्य' उत्तरी दिशा (भाग) में सम्पन्न किया जाता है। दोनों कृत्यों का होता भृगु–गोत्रज रखा जाता है।[2] दोनो कृत्यों के लिये सोम की व्यवस्था की जाती हैं। सविता, अग्नि, गृहपति, सोम, वनस्पति, बृहस्पति, इन्द्र, रूद्र, मित्र एवं वरूण आदि अष्टदेवों को चरू के रूप में अष्ट आहुतियाँ समर्पित की जाती हैं। चरू की इन आहुतियों के उपरांत पुरोहित 17 पात्रों में 17 प्रकार का जल लेकर, उदम्बुर नामक पात्रों में रखकर, मैत्रावरूण नामक पुरोहित के आसन के पास स्थापित कर देता है, अब इन विभिन्न प्रकार के जलों से यजमान का अभिषिञ्चन किया जाता है। ''अब होता, शुनःशेप की कथा कहता है''[3]। अभिषेचनीय कृत्य के उपरांत 'व्यतिषञ्जनीय' नामक दो होम किये जाते हैं। ''इस होम के पूर्व में यजमान अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपने पितामह की संज्ञा देता है एवं उसके उपरांत वास्तविक सम्बन्ध सिद्ध किया जाता है''।[4] राजा अपने सम्बन्धियों से सौ से अधिक गौ लूटने का संकेत प्रदर्शित करता है। यह क्रिया वे चार अश्व वाले रथ पर चढ़कर सम्पन्न करते हैं। गायों को पुनः लौटा देते हैं। अब ''रथविमोचनीय'' संज्ञा की चार विशिष्ट आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं। यजमान (राजा) दान देता है एवं द्यूतक्रीड़ा करता है, जिसमें उसके विजय का मार्ग प्रशस्त कर दिया जाता है। अब 'दशपेय कृत्य' का प्रारम्भ 'अभिषेचनीय' के दस दिवसोपरांत किया जाता है। 'दशपेय' में दस चमसों एवं दस सुपात्र ब्राह्मणों का संयोग निर्धारित किया जाता है। इसमें ऋत्विक्रूपी दसों ब्राह्मण उन चमसों से सोमपान करते हैं। अब सभी ऋत्विक् प्रसाद रूप में 90 चमसों का भी सोमपान करते हैं,

---

1. कात्यायन श्रौतसूत्र 15/3, आप० 18/10
2. कात्ययन श्रौत सूत्र–18/9/2
3. ऐतरेय ब्राह्मण–33
4. आपस्तम्ब श्रौत सूत्र–18/16/14–15

क्योंकि ये संख्या क्रम के अनुसार उनके दस–दस पूर्वजों के प्रतीक स्वीकार किये जाते हैं। 'अभिषेचनीय' एवं 'दशपेय' में पुरोहितों को विशिष्ट दक्षिणा प्रदान की जाती हैं।[1] अभिषेचनीय में चार प्रमुख पुरोहितों को 32000 गायें, प्रथम सहायको को 16000, अग्रिम चार सहायकों को 8000 तथा अन्तिम चार सहायकों को चार हजार गायें प्रदान करते हैं। इस क्रम में होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता में प्रत्येक को 32000 गायें, मैत्रावरूण, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणाच्छंसी एवं प्रस्तोता में प्रत्येक को 16000 गायें, अच्छावाक, नेष्टा, आग्नीध्र एवं प्रतिहर्त्ता में प्रत्येक को 8000 गायें एवं अन्तिम चार ग्रावस्तुत् ,उन्नेतृ, पोता एवं सुब्रह्मण्य में प्रत्येक को 4000 गायें दी जाती हैं। इस प्रकार कुल 2,40,000 गायें दक्षिणा स्वरूप प्रदान की जाती हैं। 'दशपेय' के उपरांत 1000 गायें दी जाती हैं एवं 16 पुरोहितों को विशिष्ट दक्षिणा प्रदान करते हैं, जिसमें, स्वर्ण की एक श्रृंखला (जंजीर), एक घोड़ा, बछड़े के साथ एक दुधारू गाय, बारह गाभिन गाय, एक बन्ध्या गाय, एक बकरी, स्वर्ण के दो कर्णपुष्प, पाँच वर्ष वाली बारह गाभिन गायें, एक बैल, रूई का परिधान, एक मोटा वस्त्र, जौ से भरी एक बैल युक्त गाड़ी, एक सॉड़, एक बछिया एवं तीन वर्षीय बैल क्रम से उद्गाता एवं उसके तीन सहायकों, अध्वर्यु, प्रतिस्थाता ब्रह्मा, मैत्रावरूण, होता, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता नेष्टा, अच्छावाक्, आग्नीध्र, उन्नेतृ एवं ग्रावस्तुत् को दिये जाते हैं।"[1] दशपेय में 'अवभृथ' स्नानोपरांत यजमान को वर्ष–पर्यन्त विशेष व्रत अर्थात् नियम–संयम से रहना पड़ता है।[2] तदोपरांत पंचबलि एवं द्वादश प्रयुज नाम की आहुतियॉ होती है।[3] 'दशपेय' के एक वर्ष उपरांत 'केशवपनीय' कृत्य होता है, जिसमें वर्ष–पर्यन्त केश काटे जाते हैं।[4] केशवपनीय के उपरांत समृद्धि के लिये 'व्युष्टि' एवं 'द्विरात्र' नामक दो अन्य कृत्य सम्पादित किये जाते हैं। व्युष्टि अग्निष्टोम के समान है एवं द्विरात्र को एक प्रकार से अतिरात्र कहा जा सकता है।

---

1. आश्व0 श्रौतसूत्र–9/4/7–20, आप0 श्रौतसूत्र–18/31/6–7, कात्या0 श्रौतसूत्र–15/8/23–27, लाट्यायन श्रौतसूत्र–9/2/15
2. देवव्रत, लाट्यायन श्रौतसूत्र– 9/2/17
3. कात्यायन श्रौत सूत्र – 15/9/1–3
4. आश्वलायन श्रौतसूत्र–9/3/24

व्युष्टि–द्विरात्र के एक मास व्यतीत हो जाने पर क्षत्र–धृति संज्ञा वाला कृत्य सम्पादित किया जाता है, इसका सम्बन्ध शक्ति की सम्यक् व्यवस्था से है। यह अग्निष्टोम के नियम–सिद्धान्त के अन्तर्गत सम्पादित किया जाता है। शांखायन श्रौतसूत्र के अनुसार "क्षत्र–धृति कृत्य को न करने के कारण कुरूवों को प्रत्येक युद्ध में हार का सामना करना पड़ा"।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त समस्त कृत्यों के साथ राजसूय यज्ञ सम्पन्न होता है, परन्तु इसके समाप्त होने के लगभग एक माह के उपरांत सौत्रामणी नामक विशेष यज्ञ सम्पादित करते हैं। प्रायः समस्त श्रौतकर्मकाण्ड सम्पादित करने के पीछे भौतिक समृद्धि एवं आध्यात्मिक उन्नयन मूल उद्देश्य होता है। इसी क्रम में "राजसूय यज्ञ" सम्पादित करने का प्रमुख उद्देश्य साम्राज्य–प्राप्ति तथा राज्य की रक्षा हेतु देवों को सन्तुष्ट करना है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'राजसूय यज्ञ' सम्पादित करने से यजमान (क्षत्रिय) को राज्य की प्राप्ति होती है एवं वाजपेय यज्ञ करने से सम्राट बनता है–

"राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति सम्राड्वाजपेयेन"।[2]

---

1. शाखायन श्रौतसूत्र–15/16/1–11
2. शतपथ ब्राह्मण–9/3/4/18

राजसूय यज्ञ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

राजसूय यज्ञ श्रौतकर्मकाण्ड से सम्बद्ध एक प्रकार का जटिल यज्ञ है। इस यज्ञ से प्राप्त होने वाला प्रमुख अभीष्ट फल राजसत्ता एवं अपारसमृद्धि है। इसी अभीष्ट फल से यजमान (क्षत्रिय) के अन्तःकरण में संवेग उत्पन्न होता है। फलस्वरूप यजमान उस अभीष्ट से पूर्णतयः प्रेरित होकर याज्ञिक कृत्य के लिये आबद्ध हो जाता है। मनोविज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि यदि प्रेरक ठोस अर्थात् रूचिपूर्ण हो, तो व्यक्ति के अन्तः शक्ति–संचार अर्थात् प्रेरणा–शक्ति का विद्यमान होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। राजसूय यज्ञ के सम्पादन में यजमान एवं पुरोहित के चंचलमन का स्थिरीकरण एवं दृढ़ तथा मन्थनशील मन का होना अनिवार्य है, अन्यथा इस कृत्य के मध्य में ही अवरोध उत्पन्न हो सकता है। इस कृत्य में 'अभिषेचनीय' नामक कृत्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस कृत्य में सर्वप्रथम विभिन्न देवों को चरू की आहुतियाँ प्रदान करके उनके मन एवं हृदयात्मक भाव को पुरोहित एवं यजमान से सन्निबद्ध किया जाता है। तदोपरांत विभिन्न प्रकार के जलों से यजमान का पवित्रीकरण किया जाता है एवं शुनःशेप की कथा कही जातीं हैं। इस प्रकार 'अभिषेचनीय' कृत्य से यजमान में यज्ञ के प्रति विशेष रूचि उत्पन्न होती हैं एवं उसके अन्तःकरण में सम्पूर्ण याज्ञिक कृत्य को सम्पादित करते समय अवधान अर्थात् एकाग्रता उत्पन्न होती है। वस्तुतः मंत्रशुद्धि, निर्मलीकरण एवं कथा का श्रवण करने से यजमान की चित्तवृत्ति शांत हो जाती है और वह यज्ञ में दत्तचित्त हो जाता है, मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है कि प्रेरक जितना शक्तिशाली होगा, व्यक्ति की रूचि एवं एकाग्रता भी उतनी ही बढ़ती जायेगी। इस प्रकार याज्ञिक विधि से इस याज्ञिक कृत्य का प्रेरक अधिक प्रभावशाली होकर रूचि एवं एकाग्रता की अभिवृद्धि करता है।

रूचि एवं एकाग्रता के विषय में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक डब्ल्यू मैगडोगल का कथन इस प्रकार है– **"Interest is latent attention, attention is interest in action."**[1]

---

1. शिक्षा मनोविज्ञान डा० एस० एस० माथुर–पृ०–294

इस कृत्य में विभिन्न प्रक्रियायें सांकेतिक एवं भावात्मक क्रम में सम्पन्न की जाती हैं, जिससे राजा अर्थात् यजमान की मनोवृत्ति विजयी स्वभाव के समान हो जायें एवं उसमें आत्मविश्वास की वृद्धि हो और वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सक्षम हो सकें। आधुनिक मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्त्व को पूर्णतया विकसित कर देने से, वह अपने लक्ष्य को अत्यन्त सरल रूप में देखने लगता है। मनोविज्ञान व्यक्तित्त्व को इस प्रकार परिभाषित करता है–

"Personality is the dynamic organization within the individual of these psycho-physical systems that determine his unique adjustment to his environment.[1]

इस प्रकार राजसूय–कृत्य में सम्पादित की जाने वाली विभिन्न सांकेतिक प्रक्रियाओं से यजमान का व्यक्तित्त्व राजसत्ता को प्राप्त करने के लिये पूर्णतयः विकसित हो जाता है। अब यजमान की मानसिक शक्ति प्रखर हो जाती हैं। उसके अन्तः में संकल्प–शक्ति की दृढ़ता एवं उसकी चित्तवृत्ति विजयोन्मुखी हो जाती हैं। इस कृत्य में सोमयाग की क्रिया का भी प्रत्यक्षीकरण होता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी प्रत्यक्षीकरण को इस प्रकार परिभाषित करता है– **"Perception is the process of getting to know of objects and objective facts by use of the Senses."[2]**

1. Allport, Personality : A Psychological interpretation-1957-p-48
2. Woodwarth & Marquish, Psychology, 1955, p-402.

अश्वमेध यज्ञ

अश्वमेध एक विशिष्ट एवं प्राचीनतम यज्ञों में स्वीकार किया जाता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में अश्वमेध को राज्य या राष्ट्र कहा जाता है। जब शक्तिहीन व्यक्ति अश्वमेध यज्ञ करे, तो वह हरा दिया जाता है, क्योंकि जब अश्व पकड लिया जाता है तो यज्ञ नष्ट हो जाता है।[1]

फाल्गुन शुक्लपक्ष के आठवें या नवें दिन या ज्येष्ठ मास के इन्हीं दिवसों या आषाढ़ मास के दिन में अश्वमेध यज्ञ करना चाहिये।[2] आपस्तम्ब के अनुसार चैत्र की पूर्णिमा में अश्वमेध यज्ञ करना चाहिये।[3]

इस यज्ञ के प्रारम्भ में "ब्रह्मौदन" कृत्य होता है, जिसमें चार पात्रों में से चार अंजलि एवं चार मुट्ठी चावल लेकर गार्हपत्याग्नि में पकाया जाता है। चावल में घृत को भलीभॉति मिश्रित करके क्रमशः होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा एवं उद्गाता नामक पुरोहितों को समर्पित कर दिया जाता है। इन पुरोहितों में प्रत्येक को एक–एक सहस्र गायें दी जाती है और साथ ही एक सौ गुंजा के बराबर स्वर्ण खंड दिया जाता है।[4] अग्नि मूर्धन्वान् एवं पूषा के लिये दो इष्टियाँ की जाती है।[5] यजमान अपने केश–नख काटकर, स्नान करके, नवीन वस्त्र एवं आभूषण धारण करके, निर्मल एवं शांत रहता है। यजमान की चारों रानियाँ भी स्वर्णाभूषण धारण करके यज्ञ में भाग लेने के निमित्त उसके निकट आ जाती है एवं यजमान अग्निस्थल में जाकर गार्हपत्याग्नि के पश्चिम उत्तराभिमुख स्थान को व्यवस्थित रूप से ग्रहण कर लेता है। "इस यज्ञ के प्रमुख तत्त्व अश्व को श्वेत वर्ण का एवं उस पर श्याम वर्ण का वृत्ताकार चिन्ह् हो तथा वह द्रुतगामी होना चाहिये"।[6]

---

1. तैत्तरीयय ब्राह्मण–8–9
2. कात्या० श्रौतसूत्र–20/1/2–3
3. आपास्तम्ब श्रौतसूत्र–20/1/4
4. कात्यायन श्रौतसूत्र–20/1/4–6
5. आश्वलायन श्रौतसूत्र–10/6/2–5
6. शपपथ ब्राह्मण–13/4/2/4

अश्वमेध यज्ञ का अश्व चयनित कर लेने के उपरांत होता, अध्वर्यु ब्रह्मा एवं उद्गाता नामक चारों पुरोहित अश्व पर जल छिड़क कर उसे पवित्र करते हैं। ये पुरोहित चारो दिशाओं में खडे होते हैं एवं उनके साथ सौ राजकुमार, एक सौ उग्र, सूत, ग्राम मुखियॉ, क्षत्र एवं संग्रहीता होते हैं।[1]

अब अश्व को जल में ले जाते हैं, उसके उदर के नीचे चार नेत्रों वाले कुत्ते का हनन करके, उसके शव को बाँधकर तैराया जाता है"।[2] इस प्रक्रिया के उपरांत अश्व को अग्नि के समीप लाते हैं, जब तक उसके शरीर से जल की बूँदे गिरती है, तब तक अग्नि में आहुतियाँ डाली जाती हैं।[3] अश्व को दर्भ की बारह या तेरह अरत्नि लम्बी मेखला धारण करायी जाती है। "यजमान मन्त्रों के साथ अश्व के दक्षिण कर्ण में कुछ संज्ञायें कहता है"।[4] इसके उपरांत अश्व को स्वतंत्र रूप से सम्पूर्ण पृथ्वी की यात्रा (परिक्रमा) के लिये विदा कर देते हैं एवं उसके सहायतार्थ चार सौ रक्षक अश्व के पीछे–पीछे भ्रमण करते हुये उसकी रक्षा करते हैं। "अश्व वर्ष–पर्यन्त चलता रहता है, उसे जल में प्रवेश नहीं करने देते हैं न ही घोड़ियों से मिलने देते हैं।"[5] अश्व के रक्षक, ब्राह्मणों से भोजन माँगकर खाते हैं एवं रथकारों के घर पर शयन करते हैं। अश्व के भ्रमण के अवसर पर "यजमान प्रातः, मध्याह्न एवं सायं सविता के लिये तीन इष्टियाँ करता है, इन तीनों कालों में सविता को सत्यप्रसव, प्रसविता एवं आसविता कहकर पूजा जाता है।[6] प्रयाज आहुतियों के देते समय पुरोहितों के अतिरिक्त ब्राह्मण स्वरचित तीन प्रशस्तियुक्त गाथा गाते हैं।" "सविता के इष्टि के सम्पादन के उपरांत प्रशस्तियों को एक दिवस में तीन बार गाया जाता है।"[7] इस कृत्य में वीणावादक राजा के संग्रामों का प्रशंसनीय गान करता है एवं राजा को परिपल्व

---

1 आप० श्रौतसूत्र–20/4, सत्याषाढ–14/1/31
2. आप० श्रौतसूत्र–20/3/6–13
3. कात्यायन श्रौतसूत्र–20/2/3–5
4 आप० श्रौतसूत्र–20/5/1–9
5. कात्यायन श्रौतसूत्र–22/2/12–13
6. आश्व० श्रौतसूत्र–10/6/8
7. शतपथ ब्रा०–13/4/2/8–14

नामक उपाख्यान सुनाया जाता है, यह कार्यक्रम दस दिवसात्मक चक्र में वर्ष –पर्यन्त चलता रहता है।

प्रथम दिवस पर होता कहता है–"मनु विवस्वान के पुत्र थे एवं मानव उनकी प्रजा। द्वितीय दिवस पर–यम विवस्वान का पुत्र है एवं पितृगण उसकी प्रजा। तृतीय दिवस पर–वरूण एवं गन्धर्व लोगो का सुन्दर व्यक्तियों की ओर संकेत का वर्णन है। चतुर्थ दिवस पर–सोम, विष्णु के पुत्र एवं अप्सराओं से सम्बन्धित वर्णन होता है एवं अंगिरस वेद की इन्द्रजाल सम्बन्धी ऋचायें पढ़ी जाती हैं। पाँचवे दिवस पर–अर्बुद, काद्रवेय एवं सर्पो से सम्बन्धित आख्यान कहे जाते हैं। षष्ठम दिवस पर–कुबेर वैश्रणव एवं उसकी प्रजा, राक्षसों का वर्णन होता है एवं पिशाच वेद का पाठ करते हैं। सप्तम दिवस पर–असित धान्वन्, उसकी प्रजा तथा असुर विद्या से सम्बन्धित वर्णन होता है। अष्टम दिवस पर–मत्स्य सामद एवं उसकी प्रजा से सम्बद्ध वर्णन है। नवम दिवस पर–विपश्चित् के पुत्र तार्क्ष्य एवं उसकी प्रजा का वर्णन है। दशम दिवस पर–धर्म, इन्द्र उसकी प्रजा तथा सामवेद की ऋचाओं से सम्बन्धित आख्यान होता है। "वर्ष–पर्यन्त प्रत्येक दिवस पर सायंकाल "धृति" नामक चार आहुतियाँ आहवनीय में समर्पित की जाती हैं।"[1] इस प्रकार सविता की इष्टियाँ, गायन, परिपल्व–श्रवण एवं धृति की आहुतियाँ वर्ष–पर्यन्त चलती हैं। लगभग एक वर्ष तक यजमान भी संयम एवं विशिष्ट व्रत का पालन करता है।"[2] अब अध्वर्यु, गाथा–गायनकर्त्ता एवं होता को समुचित मात्रा में दक्षिणा प्रदान की जाती हैं।

'अश्वमेध यज्ञ' के काल में ही यदि अश्व की मृत्यु हो जाये अथवा रूग्णताग्रस्त हो जाये तो विशुद्धि के नियम कहे गये हैं। "यज्ञ के मध्य में यदि शत्रु ,अश्व का हरण कर ले तो यज्ञ नष्ट हो जाता है। वर्षान्त में अश्व को अश्वालय में लाया जाता है, तब यजमान को दीक्षित किया जाता है। इस कृत्य

---

1. कात्यायन श्रौतसूत्र–20/3/4
2. लाट्यानन श्रौतसूत्र–9/9/14

में 12 दीक्षाओं, 12 उपसदों एवं 3 सुत्य दिवसों (जिन दिवसों में सोम रस निकालते है) की व्यवस्था की जाती हैं।[1]" दीक्षा कार्य सम्पादित होने उपरांत राजा की स्तुति देवों के सदृश की जाती हैं। इस कृत्य के अग्रिम क्रम में "21–21 अरत्नियों की लम्बाई वाले 21 यूप खड़े किये जाते हैं, ये यूप विशिष्ट काष्ठ के होते हैं"[2]। इन यूपों में बहुत से पशु बाँधे जाते है, जिनकी बलि दी जाती है, जिनमें शूकर जैसे वनैले पशु एवं पक्षी भी काटे जाते हैं। इस कृत्य में बहुत से पक्षियों को अग्नि की प्रदक्षिणा करा कर मुक्त कर देते हैं। सोमरस निकालने के तीन दिवसों में दूसरे दिन के कृत्य अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। "यज्ञ के अश्व को अन्य तीन अश्वों के साथ एक रथ में संयुक्त करके अध्वर्यु एवं यजमान उस पर चढ़कर किसी तलाब या जलाशय में अश्व को प्रवेश कराते हैं।[3]" यज्ञ स्थल में पुनः वापस आने पर राजा की अत्यन्त प्रिय रानी (वावाता) तथा परित्यक्ता रानी क्रम से अश्व के अग्रभाग, मध्यभाग एवं पृष्ठभाग पर घृत–लेपन कृत्य करतीं हैं। तब "भूः, भुवः एवं स्वः नामक शब्दों के साथ अश्व के सिर, अयाल एवं पूंछ पर 101 स्वर्ण के पिण्ड बाँधती हैं, अब कुछ अन्य कृत्य किये जाते है, ऋग्वेद की ऋचा से अश्व की स्तुति की जाती है।[4] अब हरे घास पर एक वस्त्र का भाग बिछा देते है, जिस पर एक अन्य वस्त्र फैलाकर, वहाँ पर एक स्वर्णखंड स्थापित करके, अश्व का वध किया जाता है। वध के उपरांत रानियाँ अश्व की तीन बार परिक्रमा करती है एवं मृत अश्व को अपने वस्त्र से हवा करती है, दाँये ओर अपने केश को बाँधती है एवं बायें ओर खोलती हैं।[5] इसी कृत्य में वे अपने दाहिने हाथ से बाँये जंघा पर आघात करती हैं।[6] इस कृत्य के उपरांत होता पटरानी को अपशब्द कहता है, उसका उत्तर पटरानी अपनी एक सौ दासी राजकुमारियों के साथ देती हैं।"[7] ब्रह्मा भी वावाता को अपशब्द कहता है। इसके उपरांत दासियों अथवा दासी राजकुमारियाँ, पटरानी को मृत अश्व से दूर ले जाती हैं। मृत अश्व के शरीर से पटरानी, वावाता एवं परित्यक्त रानियाँ स्वर्ण, रजत एवं लौह के विशेष उपकरण के द्वारा अश्व के

1. शतपथ ब्राह्मण–13/4/4/1
2. शतपथ ब्राह्मण–13/4/4/5, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र–20/9/6–8
3. कात्याय0–20/5/11–14
4. ऋग्वेद–1/163, आश्वलायन श्रौतसूत्र–10/8/5
5. वाजसनेयी संहिता–23/19
6. आश्वलायन–10/8/8
7. आवश्वालय श्रौतसूत्र–10/8/10–13

माँस भाग को बाहर निकालती हैं। अब विभिन्न देवताओं को मांसाहुतियाँ समर्पित की जाती है एवं उससे सम्बद्ध अन्य कृत्य किये जाते हैं। इस कृत्य में "दक्षिणा के अन्तर्गत सोमरस निकालने के प्रथम एवं अंतिम दिवस में एक सहस्र गायें एवं द्वितीय दिवस में राज्य के किसी एक जनपद में रहने वाले सभी अब्राह्मणों की सम्पत्ति दान दी जाती हैं। विजित किये गये देश के पूर्वी भाग की सम्पत्ति होता को, विजित देश की उत्तरी, पश्चिमी एवं दक्षिणी भागों की सम्पत्ति क्रमशः उद्गाता, अध्वर्यु एवं ब्रह्मा तथा उनके सहभागियों को प्रदान की जाती हैं। यदि इस प्रकार की सम्पत्ति न हो, तो उसके विकल्प स्वरूप चार प्रमुख पुरोहितों को 48000 गायें एवं प्रधान पुरोहितों के तीन–तीन सहायकों को 24000 गायें, 12000 गायें एवं 6000 गायें दी जाती हैं"।[1]

पुत्रोत्पत्ति की इच्छा से दशरथ ने भी अश्वमेध यज्ञ किया था, रामायण में इसका विस्तृत वर्णन पाया जाता है।[2] चालुक्यराज पुलकेशी ने भी अश्वमेध यज्ञ किया था।[3]

श्रौतकर्मकाण्डों में अश्वमेध यज्ञ अत्यन्त जटिल यज्ञ है, इसका सामान्य प्रचलन तो नही है, परन्तु प्राचीन काल में इसके विवरण प्राप्त होते हैं। इस यज्ञ को सम्पादित करने का प्रमुख उद्देश्य साम्राज्य की प्राप्ति तथा राष्ट्र के विस्तार से है। हमारे मनीषियों ने राजाओं के अखंड एवं निर्विघ्न राष्ट्र की स्थापना के लिये विशेषकर इसकी रचना की थीं, जिससे राजा अपने राष्ट्र का सुदूर विस्तार एवं राष्ट्र की सत्ता को दीर्घकाल तक व्यवस्थापित कर सकें।

शास्त्रगत् प्रमाण के अनुसार सार्वभौम एवं अभिषिक्त राजा (जो अभी–अभी सार्वभौम नहीं हुआ है) अश्वमेघ यज्ञ कर सकता है।[4] सामान्यतः "सभी पदार्थों की आकांक्षाओं, समस्त विजयाभिलाषाओं तथा अतुलसमृद्धि की इच्छा रखने वालों के द्वारा अश्वमेध यज्ञ किया जाता था।"[5]

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पी वी काणे, पृ0 569
2. रामायण बाल काण्ड–13/14
3. एपिग्राफिया कर्नाटिका जिल्द 10, कोलर सं0 63
4. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र–20/1/1, लाट्यायन श्रौतसूत्र–9/10/17
5. आश्वलायन श्रौतसूत्र—16/6/1

अश्वमेध यज्ञ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

श्रौतयज्ञों से सम्बद्ध अश्वमेध यज्ञ एक विशिष्ट एवं प्राचीनतम यज्ञ है। इस यज्ञ में अश्व को राष्ट्र का प्रतीक माना जाता है, अतएव शक्ति सम्पन्न व्यक्ति ही इस यज्ञ का सम्पादन कर सकता है, क्योंकि अश्व परिक्रमा के समय पकड़ा न जा सके। इस तथ्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि बलिष्ठ एवं विशाल सम्प्रभुता वाले राजा ही राजसूय यज्ञ कर सकते हैं।

राजसूय यज्ञ में अखंड एवं निर्विध्न राष्ट्र की स्थापना , यजमान का मुख्य अभीष्ट अर्थात् प्रेरक है। यही अभीष्ट यजमान में प्रेरणा का संचार करके याज्ञिक कृत्य के लिये उसकी मनःस्थिति को प्रेरित करता है। प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक विलियम मैक्डूगल के अनुसार "प्रत्येक प्रयोजन के इच्छा एवं पूर्वज्ञान नामक दो भाग होते हैं, पूर्वज्ञान को वह अनुभव के रूप में स्वीकार करता है। जब किसी कार्य का अनुभव होता है तो उसे पूर्ण करने की इच्छा मन में उत्पन्न होने के कारण ही कोई व्यक्ति व्यवहार करता है।"[1]

इस कृत्य में यजमान का निर्मलीकरण होता है। उसे शारीरिक एवं मानसिक रूप से विभिन्न उपक्रमों के माध्यम से शुद्ध किया जाता है, जिससे उसकी पराक्रमी चित्तवृत्ति जागृत होकर विजय के लक्ष्य को प्रशस्त कर सके। मनोविज्ञान भी व्यक्ति के व्यक्तित्त्व के उन्नयन एवं चित्तवृत्ति के विकासोन्मुखी होने के लिये उपर्युक्त तत्त्वों को स्वीकार करता है।

इस कृत्य में अश्व को भव्याकृति एवं द्रुतगति वाला स्वीकार किया जाता है, जिससे शत्रुपक्ष यदि उसे पकड़ने का विचार बनाये भी तो, उसकी भव्यता एवं उसके साथ चलने वाले सैन्यदल से राजा की शक्ति का अनुमान करके, उसे अपहृत करने की योजना त्याग दें। मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है कि व्यक्ति का व्यक्तित्त्व प्रभावशाली होने पर, अन्य लोग उसके वशीभूत हो जाते हैं।

---

1. सामान्य मनोविज्ञान–जे० एन०, पृष्ठ–103

आधुनिक मनोविज्ञान व्यक्तित्त्व को इस प्रकार परिभाषित करता है–

"Personality is not of course a sum of aspects or traits, but a part of dynamic organisms."[1]

इस प्रकार सांकेतिक रूप से राष्ट्र का प्रतिनिधित्त्व करने वाले अश्व एवं उसके साथ चलने वाले सैन्यदल का व्यक्तित्त्व कुछ इस रूप में होता है कि वह विषम से विषम परिस्थिति में स्वयं को प्रवर्द्धिति कर सके। इस याज्ञिक कृत्य में राजा (यजमान) को विभिन्न प्रकार की गाथायें एवं याज्ञिक कृत्य के माध्यम से उसमें अद्वितीय (विलक्षण) शक्ति एवं आत्मविश्वास का उन्नयन किया जाता है, जिससे राजा किसी भी विषम परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण होने पर यथोचित् शक्ति प्रदर्शन करके लक्ष्य की प्राप्ति कर सके। मनोविज्ञान भी प्रत्यक्षीकरण के विषय में कहता है–**When some sensations carry the more or less definite references to an object that is known as perception".[2]** इस प्रकार विषम परिस्थिति में अश्व के अपहृत होने पर राजा को युद्ध करना पड़े तो, उस स्थान पर याज्ञिक कृत्य के प्रत्यक्षीकरण (Perception) का निदर्शन होता है।

इस प्रकार विजयी अश्व के परिक्रमा करके वापस आ जाने पर, उस संकल्पित अश्व का विभिन्न प्रकार के विधि–विधान से शोधन एवं उसका हनन करके, अश्व की मांसाहुति विभिन्न देवों को समर्पित करते हैं। इस समर्पण से देवगण संतृप्त होकर यजमान (राजा) को अखंड राष्ट्र का निर्विघ्न सुख प्रदान करते हैं।

वस्तुतः यह एक विशाल यज्ञ है एवं इसके सम्पन्न होने से राजा (यजमान) को अखंड राष्ट्र का सौभाग्य प्राप्त होता है। इस यज्ञ को सम्पन्न कराने में सबसे बड़ा योगदान पुरोहितगण का होता है, अतः उनमें चित्तवृत्ति की एकाग्रता एवं विषय के प्रति समर्पण होना आवश्यक है। इसीलिये इस याज्ञिक कृत्य के दक्षिणास्वरूप पुरोहितों को एक प्रकार का विशाल दान एवं उपहार प्रदान किया जाता है, जिससे वे मानसिक रूप से आह्लदित होकर यजमान को अपने अन्तः से आशीर्वाद प्रदान करते हैं।

---

1. Peterson, Ed, Psychology, P. 377
2. Jalota, A text of Psychology 1952. P. 169.

अग्निचयन (वेदी–रचना)

श्रौतकर्मकाण्डों में अग्निचयन अत्यन्त क्लिष्ट प्रक्रिया है। शतपथ ब्राह्मण के चौदह भागों में पाँच भाग अग्निचयन से सम्बन्धित हैं। प्रारम्भ में यह स्वतंत्र कर्मकाण्ड था, परन्तु बाद में सोमयज्ञों में समाहित हो गया। अग्निचयन के अन्तर्गत अग्निवेदिका का निर्माण एक जटिल प्रक्रिया है। इस कृत्य में सृष्टि–संरचना से सम्बद्ध विचार प्राप्त होता है।

ऋग्वेद में "हिरण्यगर्भ सम्पूर्ण जगत् के विधाता के रूप में है, उत्पत्ति, नाश एवं पुनरूत्पत्ति का नियम शाश्वत् है"।[1] पुरूष ने स्वयं यज्ञिय सामग्रियों (हवि) का रूप धारण किया। वर्षा एवं ऋतुओं ने पुनर्निर्माण का स्वरूप धारण कर लिया। इसलिये मनुष्य को भी, जो शाश्वत् परिवर्तन चक्र का शिशु मात्र है, उसे विश्व के पुनर्निर्माण के लिये अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देना चाहिये।[2] शतपथ ब्राह्मण के दशम काण्ड के अन्तर्गत अग्निचयन कृत्य का विस्तृत वर्णन किया गया है। अग्निचयन में वेदिका निर्माण के सम्पूर्ण कृत्य एवं विधि–विधान में सृष्टि की पुनःसृष्टि एवं पुनर्निर्माण की प्रक्रिया स्पष्टतः परिभाषित होती है।

अग्निवेदिका को पाँच स्तरों में निर्मित करने की प्रक्रिया सोमयज्ञ से सम्बन्ध को प्रकट करती है। फाल्गुन की पूर्णिमा के इष्टि के उपरांत या माघ के अमावस्या दिवस पर मनुष्य, अश्व, बैल, भेड़ एवं बकरी की बलि समर्पित करने के उपरांत अग्निवेदिका का निर्माण होता है। बौधायन के अनुसार "युद्ध में मारे गये मनुष्य तथा अश्व के सिर लाये जाते थें।[3]" इससे ज्ञात होता है कि इस कृत्य में मनुष्य एवं अश्व का वध नही होता था। पशुओं के सिर वेदिका में स्थापित किये जाते थें एवं उनके धड़ को उस जल में डाल देते थें, जहाँ से मिट्टी मिश्रित करके वेदी के निमित्त ईट (इष्टिका) निर्मित करते थें। कात्यायन

1. ऋग्वेद–10/121
2. धर्मशास्त्र का इतिहारस, भाग–2 पी० वी० काणे–पृ० –574
3. बौधयन–10/9

के कथनानुसार "पशुओं के स्थान पर विकल्प में स्वर्णिम मिट्टी के बने हुये पशुओं का प्रयोग होता था।"[1] वेदि निर्माण हेतु मृत्तिका को एक अश्व, एक गर्धव एवं एक बकरे की सहायता से एकत्रित किया जाता है। अब यज्ञकर्त्ता वेदि एवं तीन विश्वज्योतिः इष्टिकाओं का निर्माण करता है एवं उसकी पत्नी आषाढ़ इष्टिका को निर्मित करती है। पशुबलि के चौदह दिवस उपरांत दीक्षा के समय अग्निपात्र को अग्नि से परिपूर्ण रखते हैं। एक वर्ष तक यज्ञानुष्ठान को सम्पन्न करने वाले अग्निपात्र को विभिन्न स्थानों पर ले जाते हैं। विष्णु-पादक्रम के अनुरूप चलते हुये, अग्निपात्र-वेदि को व्यवस्थित करके वेदिका निर्माण सम्बन्धी अन्य कृत्य किये जाते हैं।

वेदिका निर्माण के सभी पूर्व कृत्य सम्पन्न होने के उपरांत पाँच स्तरों वाली अग्नि-वेदिका को निर्मित करते हैं। वेदिका के पॉच स्तरों के निर्माण में प्रथम, तृतीय एवं पंचम की प्रक्रिया, द्वितीय एवं चतुर्थ से भिन्न होती है। वेदिका का आकार द्रोण (दोने) के समान या रथचक्र, श्येन (बाज पक्षी), कंक, सुपर्ण (गरूढ़) के सदृश होता है।[2] वेदिका-निर्माण में त्रिकोणाकार, आयताकार एवं वर्गाकार ईटों का प्रयोग किया जाता है। ईटों का अलग-अलग नाम भी है- "यजुष्मती" नामक ईटें पक्षी के आकार में होते हैं। कुछ ईटें ऋषियों के नाम से भी प्रचलित होते है, यथा-"वालखिल्य"। जैमिनि ने 'चित्रिणी' एवं लोकम्पृण नामक ईटों के स्थानों का वर्णन किया है।[3] इन विभिन्न प्रकार के ईटों को मंत्रोच्चारण एवं यज्ञीय विधि-विधान के साथ वेदिका निर्माण हेतु स्थापित किया जाता है।

"पॉच स्तरों के वेदिका निर्माण में प्रथम में 1950 एवं शेष में 10,800 इष्टिकायें होती है। प्रथम चार स्तर के निर्माण में आठ माह एवं अन्तिम स्तर के

---

1. कात्यायन-16/1/32
2 तै सं0-5/4/11, कात्यायन श्रौतसूत्र-16/5/9
3. जैमनि-5/3/17-20

निर्माण में लगभग चार माह लगता है। वेदि निर्माण में जो सबसे प्रमुख तत्त्व था, वह अन्तिम स्तर पर मनुष्य की स्वर्णमयी मूर्ति की स्थापना से है। यह अग्नि का प्रतीक था, इसे शरीररूपेण ही वेदि में स्थापित कर देते हैं। वेदि के समीप ही एक मगरमच्छ को रहस्यात्मक प्राणी के रूप में जीवित ही स्थापित कर दिया जाता है। वेदिका निर्माण के उपरांत प्रत्येक प्रकार के (औषधि रूपी) वन्य वृक्षों एवं पौधों की 425 आहुतियाँ रूद्रों को समर्पित की जाती हैं। वेदिका पर अग्नि की स्थापना यज्ञीय विधि–विधान से की जाती हैं। पुरोहित एवं यजमान वेदि पर पदापर्ण करते है। श्वेत बछड़े वाली श्याम वर्ण की गाय के दुग्ध को सबसे अन्त में वेदि के समीप स्थापित विशेष छिद्रयुक्त ईटों प्र समर्पित करते हैं। अब प्रज्वलित समिधा को इस पर स्थापित कर देते हैं एवं इसे प्रज्वलित करने के लिये विशेष प्रकार के काष्ठ का प्रयोग होता है। उनचास आहुतियॉ वायु के लिये, ये यज्ञकर्त्ता के लिये उतनी ही उपयोगी है, जितना इन्द्र के लिये, तीन सौ बहत्तर आहुतियाँ अग्नि के लिये, तेरह आहुतियॉ महीनों के लिये, सोलह आहुतियाँ पुनः अग्नि के लिये, पृथि–वैन्य नामक पौराणिक राजा द्वारा अपने राज्याभिषेक पर प्रचलित पार्थ–आहुति एवं चौदह वाजप्रवसीय, जिनके अवशिष्टांशों को दुग्ध एवं जल में मिश्रित करके यज्ञकर्त्ता का अभिषेक किया जाता है। अब यज्ञकर्त्ता वेदि का स्पर्श करके कृष्ण–मृगचर्म पर जैसे ही बैठता है तो उसकी अभिलाषायें पूर्ण हो जाती हैं। अभिषेक के उपरांत छह पार्थ आहुतियाँ, बारह राष्ट्रभृत–आहुतियॉ एवं वायु के लिये तीन आहुतियाँ रथ के अश्व के समीप समर्पित की जाती हैं।"[1] वस्तुतः सभी स्तरों के निर्माणोपरांत वेदिका पर आहवनीय अग्नि की स्थापना कर दी जाती है। इसके उपरांत वर्गाकार या वृत्ताकार अष्ट धिष्ण्यों को निर्मित किया जाता है। एक छोटा प्रस्तर आग्नीध्र के आसन के दक्षिण दिशा में स्थापित कर दिया जाता है। रूद्र के लिये शतरूद्रीय होम विधि–विधान से किया जाता है। अर्क पौधे के पल्लवों से 425 औषधिरूपी आहुतियाँ रूद्र एवं उनके अन्य स्वरूपों को प्रदान की जाती हैं।

---

1 "वैदिक धर्म दर्शन" भाग –2, वेदी–रचना प्रकरण से उद्धृत

वेदिका निर्माण के सम्पूर्ण याज्ञिक कृत्य के अन्त में मंत्रोच्चारण के साथ वेदिका को जल छिड़क कर शांत कर देते हैं। अग्निचयन में सोमयाग को भी सम्पादित करना पड़ता है। वेदी रचना सम्पादित करने वाले को व्रत तथा नियम–संयम का पालन करना पड़ता है। अग्निचयन–कृत्य के समय ''यजमान किसी के सामने झुकते नहीं, वर्षा में बाहर नही निकलते, पक्षियों का मांस–भक्षण नहीं करते हैं एवं शूद्र नारियों से संभोग भी नहीं करते हैं। जब कोई दूसरी बार अग्नि–चयन करता है, तो वह अपनी ही स्त्री से सहवास कर सकता है। तीसरी बार अग्निचयन पर अपनी स्त्री से भी सहवास करना निषिद्ध है''।[1]

वस्तुतः अग्नि–चयन अग्नि का संस्कार है न कि कोई स्वतंत्र यज्ञ है।[2] उपयुर्क्त वर्णन से स्पष्ट है कि यज्ञकर्त्ता को अपने अंतर्निहित अग्नि की पवित्र शक्ति को खंडित होने से रक्षा करनी चाहियें, क्योंकि यह यज्ञकर्त्ता से पृथक् हो सकती है। यज्ञकर्त्ता को पक्षी का मांस नही खाना चाहिये, क्योंकि यह मांस भी अग्नि का प्रतीक है। वस्तुतः अग्निचयन कृत्य एक असाधरण कृत्य है। इस कृत्य में विराट पुरूष के शरीर–विच्छेद द्वारा ब्रह्माण्ड की रचना का साकार प्रयास युक्तिसंगत प्रतीत होता है। अग्निचयन प्रक्रिया सृष्टि सम्बन्धी यज्ञ के समान है। इस यज्ञ को ब्राह्मणों की याज्ञिक विधि में प्रयुक्त किया जाता है। इसमें अधिकांश भाग अभिचार से सम्बद्ध प्रतीत होता है, परन्तु अभिचार के विद्यमान होने के बाद भी अग्निचयन अपने सार्थक उद्देश्य को पूर्ण करता है। वस्तुतः अग्निचयन कृत्य सम्पादित करने के पीछे प्रमुख उद्देश्य वेदिका का सुव्यवस्थित निर्माण करना है, जिससे उस पर विविध प्रकार के यज्ञ सम्पादित किये जा सके। अग्निचयन प्रक्रिया वस्तुतः यज्ञीय–सृष्टि के रचना के समान है। यह प्रक्रिया विविध यज्ञों के साथ संयुक्त होकर जीवन में विभिन्न प्रकार के भौतिक सुख–समृद्धि एवं आध्यात्मिक उद्देश्यों को पूर्ण करती है।

---

1. आप० श्रौतसूत्र–17/24/1–5, कात्यायन श्रौतसूत्र–18/6/25–31
2. जैमनि–2/3/21–33

अग्निचयन (वेदी–रचना) का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

श्रौतयज्ञों से सम्बद्ध अग्निचयन प्रक्रिया एक प्रकार का संस्कार है, न कि कोई स्वतंत्र यज्ञ है। अग्निचयन प्रक्रिया के सम्पादन के लिये यजमान के अन्तः में प्रमुख लक्ष्य यही रहता है कि सुव्यवस्थित वेदिका–निर्माण के उपरांत सुव्यवस्थित यज्ञ होगा, जिससे मनोकामनाओं की तृप्ति होगी। इस प्रकार यजमान के सम्मुख यहाँ पर दो प्रेरक तत्त्व कहे जा सकते हैं, प्रथम–वेदी निर्माण एवं द्वितीय–मुख्य प्रेरक तत्त्व यज्ञकर्म संचालित करके विभिन्न प्रकार के भौतिक एवं आध्यात्मिक लाभ को प्राप्त करना है। इसी अभीष्ट के आधार पर यजमान में प्रेरणा का संचार होता है, जिससे वह अग्निचयन एवं उस पर सम्पन्न होने वाले याज्ञिक कृत्य का चिंतन प्रारम्भ करता है। मनोविज्ञान भी प्रेरक तत्त्व से जागृत होने वाली मनुष्य की अन्तः शक्ति को प्रेरणा का नाम देता है। मनोविज्ञान प्रेरणा को इस प्रकार परिभाषित करता है– **"Motivation is broadly viewed, it is the problem of determining the for as which impel or incite an living Organism to action.".**[1]

वस्तुतः अग्निचयन की प्रक्रिया से सृष्टि की पुनर्सृष्टि, एवं पुनर्निर्माण की प्रक्रिया स्पष्टतः परिभाषित होती है। सामान्यतः याज्ञिक कृत्य भी पुनः सृष्टि एवं पुनर्निमाण के उद्देश्य से ही सम्पन्न किये जाते हैं। मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है कि जब तक व्यक्ति की मनोवृत्ति को विषय के अनुकूल नही बनायेंगे तब तक उसका विषय के प्रति चिंतन नही रहेगा। इसी उद्देश्य से अग्निचयन प्रक्रिया सृष्टि–रचना के समान निर्मित की गयी है, जिससे यजमान की मानसिक–वृत्ति विभिन्न विषयों से पृथक् होकर निर्माण एवं संरचना जैसे कार्यो में योगदान देने वाले यज्ञों की ओर उन्मुख हो सके। वस्तुतः किसी भी विषय में रूचि का होना आवश्यक है, अन्यथा विषय के प्रति अवधान (Attention) उत्पन्न नही होता है।

---

1. B.L.W., Psychology, p-112

आधुनिक मनोविज्ञान भी रूचि एवं अवधान को महत्त्वपूर्ण कारक स्वीकार करता है–

"Interest is latent attention, attention is interest in action.".[1]

अग्निचयन प्रक्रिया में यजमान का स्वच्छ एवं निर्मल होना अत्यावश्यक है, क्योंकि स्वच्छता एवं नियम–संयम का अभाव होने से यजमान का चंचल मन प्रभावशील होकर उसके बुद्धि–विवेक का हरण कर लेगा एवं यजमान याज्ञिक कार्य के प्रति एवं उससे पूर्व वेदीरचना के लिये एकाग्रचित्त नही हो पायेगा। इस सन्दर्भ में मनोविज्ञान का विचार है कि स्वच्छ मन में ही स्वच्छ विचार उत्पन्न होते है, जिससे व्यक्ति विषयों के प्रति एकाग्रचित्त रहता है।

1. शिक्षा मनोविज्ञान–डा० एस० एस० माथुर–पृ०–294

द्वितीय अध्याय
UNIVERSITY OF ALLAHABAD
QUOT RAMI TOT ARBORES
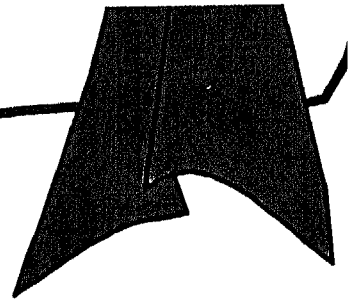
यज्ञ एवं यज्ञानुभूति

वैदिक काल के प्रारम्भ से ही यज्ञ भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति 'यज्' धातु एवं नङ् प्रत्यय के योग से है। यज्ञ मानव जीवन में सत्कर्म, नैतिकता एवं आध्यात्मिकता की दिव्यज्योति जागृत करता है। सामान्यतः 'यज्ञ' शब्द का उच्चारण करने पर हमारे मानसिक पटल पर एक दिव्य वातावरण आच्छादित हो जाता है, जिसमें वेदी एवं यज्ञ–कुण्ड के चारों ओर बैठे हुये ऋत्विक्, यजमान एवं अन्य विशिष्ट लोगो के द्वारा मंत्रोच्चारण के साथ देवों के तृप्ति हेतु सुगंधित पदार्थों एवं पक्वान्न की आहुति देने का चित्रण उपस्थित होता है। वस्तुतः "यज्ञरूप में प्रजापति सर्वसृष्टा है, देव, असुर उसके श्वाँस–प्रश्वाँस से उत्पन्न होते हैं, उसी से मनुष्य, पशु, पौधे, वृक्ष, खनिज पदार्थ, पर्वत, पृथ्वी तथा स्वर्ग भी समुत्पन्न हुआ है।"[1] यज्ञ की व्यवस्था ईश्वर (प्रजापति) ने मानव कल्याण हेतु एवं स्वयं से मनुष्यों को जोडने हेतु की है। इन यज्ञों को सम्पादित करके मनुष्य अपने विविध भौतिक लक्ष्यों को तो प्राप्त करता ही है, प्रत्युत् आध्यात्मिकता की पराकाष्ठा पर पहुँच कर ईश्वरानुभूति भी करता है।

यज्ञ के सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण का कथन है–"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"।[2]

ऋग्वेद में तो यज्ञकर्म मानव जीवन का आवश्यक कर्त्तव्य है–

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।[3]

वस्तुतः वैदिक ऋषियों का सम्पूर्ण जीवन यज्ञमय ही था, इस सन्दर्भ में ऋग्वेद में ऐसा वर्णित है–"ओइम् अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्",[4] अर्थात्

---

1. वैदिक धर्म दर्शन, भाग दो, हिन्दी अनुवाद–डा0 सूर्यकान्त, पृष्ठ–567
2. शथपथ ब्राह्मण–1/7/1/5
3. ऋग्वेद–10/90/16
4. ऋग्वेद–1/1/1

मानव जीवन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता ऊर्जा एवं शक्ति है, जिसकी सम्प्राप्ति यज्ञ के बिना सम्भव नहीं है।

यज्ञानुभूति एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। यज्ञ कर्म के आयोजन में प्रथमतः सम्पूर्ण वातावरण सुगन्धित एवं कीट प्रभाव से मुक्त हो जाता है, जिससे मानव शरीर में विभिन्न प्रकार के रासायनिक परिवर्तन होते हैं। फलतः उसका मस्तिष्क अत्यन्त शांत एवं ईश्वर–केन्द्रित हो जाता है। याज्ञिक प्रक्रिया, में यज्ञाग्नि जैसे ही प्रज्वलित होती है, उसी समय मनुष्य का मन केन्द्रस्थ एवं शांत हो जाता है तथा उसके अन्तर्मन में भी दिव्यज्योति प्रदीप्त होने लगती है। अन्तर्ज्योति के मानव मन (मस्तिष्क) में प्रवेश करते ही उसके अन्तः का सम्पूर्ण अज्ञान एवं कलुषित भाव नष्ट हो जाता है तथा उसकी चैतन्यता उद्‌विकसित होने लगती है। इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम मनुष्य का अन्नमय, स्थूल–शरीर पूर्णतया पवित्र हो जाता है, अब प्राणमय कोश में भी निर्मलीकरण की प्रक्रिया स्वतः हो जाती है। फलतः मानव–मस्तिष्क में सुविचार एवं नैतिक–विचारों का पल्लवन प्रारम्भ हो जाता है। मनोमय कोश के उपरांत बुद्धिमय कोश का भी मार्ग प्रशस्त हो जाता है, तब बुद्धि का शोधीकरण एवं उद्‌विकास होता है। बृद्धिमय कोश से विज्ञानमय कोश भी आनन्दित होने लगता है, जिससे मनुष्य परमपिता परमेश्वर से स्वयं को उन्हीं का अविभाज्य अंग स्वीकार करके आनन्द से आत्मविभोर हो जाता है। यज्ञानुभूति के विषय में अथर्ववेद का यह मन्त्र उत्तम दृष्टांत प्रस्तुत करता है–

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता ।3।

प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता ।।4।।[1]

अर्थात् सायंकाल संध्या के समय यज्ञ किया जाता है, तो यह प्रातःकाल तक वायु शुद्धि द्वारा बल, बुद्धि एवं आरोग्यकारक होता है तथा प्रातःकाल का यज्ञ

---

1. अथर्ववेद–19/55/3–4

उसी प्रकार सायंकाल अपना प्रभाव उत्पन्न करता है। अथर्ववेद की इस ऋचा से यह स्पष्ट होता है कि यज्ञ कृत्य के माध्यम से बल, बुद्धि एवं आरोग्यता की अनुभूति उत्पन्न होती है।

यज्ञ के माध्यम से ही मनुष्य अपने बुद्धि, स्मरण एवं मानसिक क्रिया–शक्ति के विकास का अनुभव करता है, ऐसा वर्णन यजुर्वेद में उपलब्ध है–

"मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्"।[1]

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के विषय में "यज्ञो वै विष्णु" कहा गया है। याज्ञिक क्रियाओं से परमात्मा की प्राप्ति एवं ब्रह्मानुभूति होती है। यज्ञ मनुष्य के अन्तः में विद्यमान आत्मज्योति को जागृत करता है, जिससे मानव–बुद्धि के सात्विक पक्ष का उन्नयन होता है, फलतः मानव–शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तर्प्रज्ञा, चित्त एवं आत्मा का निर्मलीकरण होता है। यज्ञ के अन्य दो महत्त्वपूर्ण पक्ष है, जिसमें 'स्वाहा' एवं 'इदं न मम्' की भावना प्रादुर्भूत होती हैं। इन दोनो पक्षों से मनुष्य के अन्तःकरण में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद् एवं मात्सर्य का पूर्णतः लोप हो जाता है। यज्ञ से निष्काम भाव की अनुभूति उत्पन्न होती है एवं निष्काम फल की कामना से किये गये कृत्य से ही परमात्मा में सात्विक बुद्धि केन्द्रस्थ होती है, जिससे यज्ञकर्त्ता का जीवन सफल एवं सार्थक होता है।

वस्तुतः सम्पूर्ण यज्ञ–वृत्तान्त एवं विशेषकृत् श्रौतयज्ञों के विवेचन से दो महत्त्वपूर्ण तथ्य जागृत होते हैं, प्रथम– यज्ञ में उत्पन्न होने वाली अनुभूति एवं द्वितीय–यज्ञ से प्राप्त होने वाला परिणाम। प्राथमिक पक्ष में मनुष्य की आत्मिक शक्ति अर्थात् आत्मबल का विकास होता है। आत्मबल से ही मनुष्य परिणाम की ओर चेष्टा करता है। यज्ञों में शुद्धता एवं ब्रह्मचर्य–व्रत भी महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मचर्य के पालन से यज्ञकर्त्ता में नैतिक एवं सात्विक विचारों का पल्लवन होता है,

---

1. यजुर्वेद–18/11

जिससे ऋत्विक् की बुद्धि आध्यात्मिक लक्ष्य में केन्द्रस्थ हो जाती है। वस्तुतः चंचल मन से रहित बुद्धि, यज्ञ के उद्देश्य एवं फल को सार्थक बनाती है।

चातुर्मास्य यज्ञादि के सम्पादन से मनुष्य के भय की मूलप्रवृत्ति, आत्मविश्वास एवं परमात्मानन्द की अनुभूति में परिवर्तित हो जाती है, यथा–"वरूण प्रधास यज्ञ"–वरूण के प्रकोप से रक्षा हेतु सम्पन्न किया जाता है। इस यज्ञ से मनुष्य में आत्मविश्वास तो उत्पन्न होता ही है, प्रत्युत् आध्यात्मिक रूप से भी स्वयं को ईश्वर के स्नेह एवं अनुराग से युक्त करता है।

सोमयज्ञों के अन्तर्गत वाजपेय, राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञ की प्रक्रिया में राजा या यजमान में विलक्षण आत्मिक–शक्ति का विकास होता है। इन यज्ञों में ऐसे महत्त्वपूर्ण कृत्यों एवं प्रक्रियाओं का समावेश होता है, जिससे यजमान स्वयं में असीम–शक्ति एवं विराट–तत्त्व के प्रवेश की अनुभूति करते है। अथर्ववेद में हवि से यज्ञ को सम्पादित करते समय यज्ञकर्त्ता के अन्तःकरण में विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ स्वभावतः प्रकट होती हैं–

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।

मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्।।[1]

अर्थात् मनन–शक्ति के लिये–मनन शक्ति से संवेदना (Sensation) एवं प्रेरणा (Motivation) का अर्थ प्रकट होता है। चेतना (consciousness) के लिये, चिन्तन (Thinking) के लिये, बुद्धि (Intelligence) के लिये, विभिन्न प्रकार के संकल्प एवं संवेगों (Emotions) के लिये, स्मृति (Remembering) एवं विस्मरण (Forgetting) के लिये। बुद्धि एवं ज्ञान (Knowledge) के लिये, अधिगम (Learning) एवं प्रत्यक्षीकरण (Perception) के लिये हवि से यज्ञ सम्पन्न किया जाता है। इस प्रकार यज्ञकर्म से मात्र सात्विक अनुभूतियाँ ही नहीं

1. अथर्ववेद–6/41/1

उत्पन्न होती, प्रत्युत् इस श्रेष्ठ एवं पवित्र कृत्य के माध्यम से अनुभूतिगत् तत्त्व या मानसिक शक्तियों का विकास भी होता है।

शतपथ ब्राह्मण में विभिन्न स्थानों पर याज्ञिक कृत्य के सम्पादन के अवसर पर मानसिक शक्तियों या अनुभूतियों का प्रयोग प्रदर्शित होता है–"सवितुर्वः प्रसवऽउत्पुनामि अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिरिति।"[1]– इस मंत्र के माध्यम से प्रेरणा (Motivation) एवं धारणा (Retaintion) का स्पष्ट भाव प्रकट होता है।

मंत्रशक्ति से धारणा, आत्मबल, निर्भयता, मानसिक स्थिरता का स्पष्ट भाव इस प्रकार प्रकट होता है–

"प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टाऽ अरातयो निष्टप्तꣳरक्षो निष्टप्ताऽ अरातयः।

उर्वन्तरिक्षमन्वेमि।।"[2]

इस प्रकार हविर्याग एवं सोमयाग के सम्पादन के अवसर पर यजमान एवं पुरोहितों में विभिन्न प्रकार के अनुभूतिगत् तत्त्व एवं मानसिक शक्तियों का विकास परिलक्षित होता है। यज्ञकर्त्ता इन्हीं सात्विक अनुभूतियों एवं मानसिक शक्तियों के आधार पर अपने भौतिक एवं आध्यात्मिक अभीष्ट की सम्प्राप्ति करता है।

---

1. यजुर्वेद–1/12
2. यजुर्वेद–1/7

यज्ञ की वैज्ञानिकता

यज्ञ वैदिक विचारधारा का प्रायोगिक स्वरूप है। यज्ञ भारतीय सभ्यता-संस्कृति का प्राणभूत तत्त्व रहा है। यज्ञ दार्शनिकता, मनोवैज्ञानिकता के साथ-साथ वैज्ञानिकता से भी परिपूर्ण है। यह एक प्रकार की वैज्ञानिक प्रक्रिया है, क्योंकि इसके प्रतिफल स्वरूप सम्पूर्ण वातावरण सुगन्धित एवं कीटाणु -विकार से मुक्त हो जाता है। याज्ञिक प्रक्रियाओं में जल को पवित्र माना गया है, जल से ही शुद्धि का विचार प्रकट किया गया है-

"पवित्रं वाऽआपः पवित्रपूतो व्रतमुपायनीति तस्माद्वाऽअप उपस्पृशति।[1]

चिकित्सकीय एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी जल से शुद्धि या शुचिता तथा स्वच्छता का विचार सर्वविदित है। प्रायः याज्ञिक क्रियाओं में व्रत या उपवास का महत्त्व है। उपवास भी एक प्रकार का वैज्ञानिक सत्य है, क्योंकि उपवास की स्थिति में मनुष्य के शरीर में संतुलन की व्यवस्था विकसित होती है, जिससे उसके मानसिक स्वास्थ्य का विकास होता है। शतपथ ब्राह्मण में भी उपवास या व्रत के सन्दर्भ में ऐसा विचार है- "अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं।"[2]

वस्तुतः यज्ञों में शारीरिक एवं मानसिक शुचिता अनिवार्य थी, इसीलिये सामान्यतः यज्ञों में उपवास या व्रत पर दृढ़ता से विचार प्रकट किया गया है। दर्शपूर्णमास यज्ञ में प्रयुक्त किये जाने वाले पात्र एवं अन्य वस्तुयें, यथा-सूप एवं अग्निहोत्रहवणी, स्फ्या एवं कपाल, शमी एवं कृष्णमृगचर्म, ऊखल-मुसली, दो बड़े-छोटे पत्थर या सील एवं लोढ़ा इत्यादि का यज्ञ में तकनीकी प्रयोग, यज्ञ की वैज्ञानिकता को प्रदर्शित करता है। दर्शपूर्णमास यज्ञ में वनस्पति को दो चौड़े पत्थरों से पीसा जाता है, इन पत्थरों का नाम "अद्रि" है। हवि-सामग्री को मुसल एवं ऊखली में कूटने की तकनीकी प्रक्रिया भी यज्ञ की सुव्यवस्था या

1. शतपथ ब्राह्मण-1/1/1/1
2 शतपथ ब्राह्मण-1/1/1/2

वैज्ञानिकता को प्रदर्शित करती है। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ की वैज्ञानिकता के विषय में ऐसा कथन है–

"अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नइति वा तद्यथैवादः सोमꣳराजानं ग्रावभिरभिषुण्वन्त्येवमेवैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्याꣳहविर्यज्ञमभिषुणोत्यद्रय इति।[1]"

याज्ञिक कृत्य में यज्ञ सामग्री एवं उस समय प्रयुक्त की जाने वाली खाद्य–सामग्री को एक निश्चित मापदण्ड से प्रयोग हेतु लेने की प्रक्रिया भी यज्ञ के वैज्ञानिकता को प्रदर्शित करता है–

स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति। अत्तारमेवैतत्परिमिततरं कनीयाꣳसं करोत्यथ यदष्टौकृत्व उपभृति गृह्णात्याद्यमेवैतदपरिमिततरं भूयाꣳसं करोति तद्धि समृद्धं यत्रात्ता कनीयानाद्यो भूयान्।[2]

यज्ञ में 'शकटी' का प्रयोग भी यज्ञ के वैज्ञानिकता एवं तकनीकी स्वरूप को प्रकट करता है।

अग्निहोत्र यज्ञ में अग्नि को शक्ति अर्थात् ऊर्जा का प्रमुख श्रोत स्वीकार किया गया है। इस कृत्य में प्रातःकाल सूर्य को अग्नि स्वरूप स्वीकार करके "सूर्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा"[3] मंत्र का उच्चारण करके अग्नि के प्रति सम्मान प्रकट किया जाता है एवं सायंकाल अर्थात् सूर्यास्त हो जाने के उपरांत 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा'[4] मंत्र का उच्चारण किया जाता है। इस कृत्य में अग्नि को शक्ति एवं ऊर्जा का मुख्य केन्द्र स्वीकार करना, वैज्ञानिकता का भाव प्रदर्शित करता है। वस्तुतः आधुनिक विज्ञान भी Solar Energy (सौर ऊर्जा) को

1. शतपथ ब्राह्मण–1/1/4/7
2. शतपथ ब्राह्मण–1/3/2/12
3. यजुर्वेद–3/9
4. यजुर्वेद–3/9

ऊर्जा या शक्ति प्राप्त करने का एक प्राकृतिक केन्द्र स्वीकार करता है। विज्ञान एक सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित ज्ञान होता है। याज्ञिक प्रक्रिया में भी एक सुनिश्चित तिथि, समय, स्थान, वस्तु सामग्री एवं ब्रह्मा, अध्वर्यु, उद्गाता, होता तथा प्रतिहर्त्ता इत्यादि की व्यवस्था की जाती है। सोमयाग के अन्तर्गत जब नापित केशच्छेदन करता है, तो उस समय दर्भ को केशों के साथ रखता हुआ दर्भ रूपी ओषधि से प्रार्थना करता है कि केशच्छेदन करते समय शारीरिक क्षति न पहुँचाये, ऐसा दृष्टांत सोमयाग में उपलब्ध है–

"अथ दर्भतरूणकमन्तर्दधाति। ओषधे त्रायस्वेति वज्रो वै क्षुरस्तथो हैममेष वज्रः क्षुरो न हिनस्त्यथ"।[1] इस कृत्य में दर्भ का आयुर्वेदिक (औषधि) प्रयोग एवं क्षुरे का प्रयोग भी यज्ञ के वैज्ञानिकता को प्रदर्शित करता है।

अग्निचयन प्रक्रिया के अन्तर्गत ईटों (इष्टिका) का प्रयोग एवं निश्चित संख्या में ईटों से वेदी–निर्माण का कृत्य भी यज्ञ की वैज्ञानिकता एवं तकनीकी शिल्पनिर्माण–शैली को प्रस्तुत करता है। वस्तुतः याज्ञिक प्रक्रिया को सृष्टिचक्र का नाभि स्थान स्वीकार किया गया है–"अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः"।[2]

ऋग्वेद में भी यज्ञ के वैज्ञानिकता के विषय में साक्ष्य प्राप्त होता है–

यत्पुरूषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत्।

वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।।[3]

इस मंत्र में यज्ञ के प्राकृतिक स्वरूप का वर्णन किया गया है। यज्ञीय सामाग्रियों से सम्पूर्ण वर्षचक्र का विवरण प्राप्त होता है। इस प्रकार यज्ञ के विषय में यह तकनीकी विश्लेषण, यज्ञ के वैज्ञानिकता को प्रदर्शित करता है। यज्ञ प्रक्रिया सृष्टि के प्रत्येक कण, अणु परमाणु, चंद्र, सूर्य एवं मेघ तथा

---

1. शतपथ ब्राह्मण–सोमयाग–3/1/2/7
2. यजुर्वेद–23/62
3. ऋग्वेद–10/90/6

जलवायु को प्रभावित करती रहती है। यज्ञ प्रक्रिया के माध्यम से प्राकृतिक पर्यावरण को भी प्रभावित किया जाता है। ऋग्वेद में यज्ञ के माध्यम से मेघों का स्वतः उत्पन्न होना एवं वृष्टिपात् का वर्णन इस प्रकार है–

"भूमि पर्जन्या जिन्वति, दिवं जिन्वन्त्यग्नयः"।[1]

इस प्रकार याज्ञिक प्रक्रिया से मेघ निर्मित होना तदोपरांत वृष्टि होना यज्ञ के गर्भ में प्रसुप्त वैज्ञानिकता को प्रदर्शित करता है। इसी क्रम में ऋग्वेद में मरूद्गण से सम्बद्ध यह मंत्र जलवृष्टि का संकेत प्रस्तुत करता है–

यूयं धूर्षु प्रयुजो न रश्मिभिर्ज्योतिष्मन्तो न भाषा व्युष्टिषु।
श्येनासो न स्वयशसो रिशादसः प्रवासो न प्रसितासः परिप्रुषः।।[2]

यज्ञीय प्रक्रियाओं में मापन की प्रणाली भी यज्ञ के वैज्ञानिकता को प्रदर्शित करती है–

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
स न भूमिर्विसृजता माता पुत्राय मे पयः।।[3]

पृथ्वी को अश्विनी कुमारों द्वारा मापना एवं विष्णु का पादन्यास मापन की ओर संकेत करता है।

पृथ्वी सूक्त में आये हुये विभिन्न मंत्र भौगोलिकता एवं भूगर्भ–विज्ञान की शैली अथवा चिन्तन को भी प्रकट करते हैं–

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम।।[4]

---

1. ऋग्वेद–1/164/51
2. ऋग्वेद–10/77/5
3. अथर्ववेद–12/1/10
4. अथर्ववेद–12/1/11

"वैज्ञानिक परीक्षणों से यह सिद्ध हुआ है कि 'अग्निहोत्र' से कुछ ऐसी गैसे निकलती हैं, जो वातावरण को शुद्ध करती हैं और उनसे प्रदूषण नष्ट होता है, इनमें से कुछ गैसें –"Ethylenoude, propylene हैं।"[1] इस प्रकार यज्ञों से पर्यावरण की शुद्धि एक वैज्ञानिक सत्य है। पर्यावरण की शुद्धि से व्यक्ति का चित्त, मन, भाव एवं अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है। अतः यह व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृत्य है।

"यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली सामाग्री चीनी, शक्कर आदि मिष्ट पदार्थो में वायु को शुद्ध करने की असाधारण शक्ति है, इसके प्रभाव से क्षय, चेचक, हैजा इत्यादि के कीटाणु नष्ट होते है"।[2] अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण के द्वितीय प्रपाठक के 18 से 20 की कण्डिका में देवों को इन्द्रिय स्वरूप एवं असुरों को रूग्णतादि रूपी विघ्न के रूप में स्वीकार किया गया है। ब्राह्मण जीवस्वरूप है, अश्व, वैश्वानर एवं जातवेदस् अग्नि के नाम है। इस सन्दर्भ में यह स्पष्ट किया जा सकता है कि अग्नि रूग्णतादि विघ्नों से रक्षा करता हुआ शरीर एवं मस्तिष्क को स्वस्थ एवं प्रसन्नचित्त रखता है।

"सामान्यतः याज्ञिक क्रिया के वैज्ञानिक सिद्धान्त की पराकाष्ठा पर विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि किसी द्रव्य का कण अल्प मात्रा में ही तड़ित–शक्ति धारण करके भ्रमण करता है, तो शक्ति युक्त वह कण आयन कहा जाता है"।[3]

"यज्ञ से उत्पन्न तड़ित–शक्ति युक्त आयन अग्निशिखा को छोड़कर धूल कणों के साथ ऊपर वायुमण्डल में चले जाते है। ये आयन आकाश में जाकर जलीयवाष्प को जमाकर मेघ बना देते हैं एवं धूलिकण इत्यादि भी वाष्प को घनीभूत होने में सहायता करते हैं"।[4]

---

1. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति– डा० कपिलदेव द्विवेदी– पृ० 311
2. वैदिक साहित्य एव संस्कृति– डा० कपिलदेव द्विवेदी– पृ० 311
3. स्वामी प्रत्यगात्मानन्द कृत् वेद व विज्ञान, पृ० 218 to 222
4. वैदिक साहित्य एवं सस्कृति–डा० कपिलदेव द्विवेदी–पृ० 312

अथर्ववेद में स्वास्थ्य एवं रूग्णता समाप्त करने से सम्बद्ध विभिन्न प्रकार के मंत्र यज्ञ की वैज्ञानिकता को प्रमाणित करते हैं– "आबयो अनाबयो रसस्त उग्र आबयोआ ते करम्भमद्मसि।।"[1]

अर्थात् हे सरसो के तेल! तू रोग को नष्ट करने के लिये खाया जाता है, तेरा तेल महान बल वाला है। उस तेल से भुने हुये साक को हम अभिमंत्रित करके ग्रहण करते हैं।

अथर्ववेद में विभिन्न प्रकार के रोग, जो शरीर में रूग्णता उत्पन्न करते हैं, उसे मंत्रशक्ति एवं याज्ञिक क्रिया से शमन करने का विचार यज्ञ के वैज्ञानिकता को प्रदर्शित करता है–

"मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्यादुत राजयक्ष्मात्।

ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्।।"[2]

अर्थात् अज्ञान रूप से देह में प्रविष्ट होने वाले 'यक्ष्मा' रोग मै तुझे हवि द्वारा मुक्त करता हूँ। जिसने पहले सोम को ग्रहण किया था, उस राजयक्ष्मा से तेरी रक्षा करते हुये, तुझे चिरायुष्य बनाता हूँ। हे इन्द्राग्ने! जिस पिशाची ने इस बालक पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित किया था, उस पिशाची से इसे मुक्त कराओं। अथर्ववेद में दीर्घायुष्य के सन्दर्भ में इस मंत्र का कथन है–

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।

तमा हरामि निर्ऋतेरूपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय।।[3]

अर्थात् व्याधि के कारण इस पुरूष की आयु क्षीण हो गयी है एवं यह लोक से जाने वाला है अथवा यम के पास पहुँच गया है, तो उसे वापस लाकर शतायुष्य करते हैं।

---

1. अथर्ववेद–6/16/1
2. अथर्ववेद–3/11/1
3. अथर्ववेद–3/11/2

इस प्रकार अथर्ववेद में आये हुये दोनों उपर्युक्त मंत्र आयुर्वेद विज्ञान या चिकित्सा विज्ञान की अवधारणा से सम्बद्ध है। आयुर्वेद सम्बद्ध इन मंत्रों से यज्ञ की वैज्ञानिकता सुस्पष्ट है।

प्राकृतिक चिकित्सा–विज्ञान में जल के माध्यम से विभिन्न शारीरिक रोगों का निराकरण किया जाता है। वर्तमान समय में 'जल' हमारे जीवन का प्राण है, ऐसा चिकित्सा–विज्ञान भी स्वीकार करता है। इस प्रकर जल से रूग्णता के समाप्त होने का कथन अथर्ववेद में भी प्राप्त होता है–

आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।

आपो विश्वस्य भेषजींस्तास्ते कृण्वंतु भेषजम्।।[1]

इस प्रकार यह (उपर्युक्त) मंत्र जब यज्ञ से सम्बद्ध होता है, तो यज्ञ की वैज्ञानिकता स्वभावतः प्रकट होती है।

सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि यज्ञ के माध्यम से ऐसा वैज्ञानिक पर्यावरण निर्मित होता है, जो मनुष्य को शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से सुसंगठित करता है। यज्ञ प्रक्रिया एक सुनिश्चित, सुव्यवस्थित एवं विशिष्ट कृत्य है, क्योंकि यज्ञ में तिथि, समय, स्थान, पुरोहितों की संख्या, मंत्र एवं यज्ञ से सम्बद्ध उद्देश्य एक प्रकार की सुनिश्चित व्यवस्था है। अतः यज्ञ के वैज्ञानिक स्वरूप का समर्थन स्वतः सिद्ध है।

---

1. अथर्ववेद–6/91/3

तृतीय अध्याय

गृह्यकर्मकाण्ड

गृहस्थ अग्नि में सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञों को गृह्ययज्ञ या पाकयज्ञ कहते हैं। साधारण गृहस्थ जीवन में रहने वाले प्राणी गृह्ययज्ञों का सम्पादन करते हैं। गृहस्थ अग्नियाँ क्रमशः इस प्रकार है–"शालाग्नि, आवसथ्याग्नि एवं औपासनाग्नि" आदि। सामान्यतः गृहस्थ अग्नि की स्थापना विवाह–संस्कार के उपरांत प्रत्येक गृहस्थ के घर में की जाती है।

पारस्कर गृह्यसूत्र में भी ऐसा वर्णन है–'आवसथ्याधानं दारकाले'

अर्थात् आवसथ्य या शालाग्नि या किसी भी अग्नि की व्यवस्था विवाहोत्सव के अवसर पर सदैव के लिये की जाती है अर्थात् गृहस्थ लोगों के जीवन का अंग हो जाती है। समस्त प्रकार के गृह्ययज्ञ या पाकयज्ञ शालाग्नि, आवसथ्याग्नि एवं औपासनाग्नि पर सम्पन्न किये जाते हैं।

इस शोधग्रन्थ में गृह्यकर्मकाण्ड प्रकरण के अन्तर्गत गृह्ययागों का क्रमिक वर्णन इस प्रकार है–

(1) पञ्चमहायज्ञ–ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ एवं मनुष्ययज्ञ।

(2) गृह्यकृत्य (अप्रधान)–पार्वण–स्थालीपाक, चैत्री, श्रवणाकर्म इत्यादि।

(3) षोडश संस्कार–गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदाध्ययन, केशांत या गोदान, समावर्तन, विवाह एवं अन्त्येष्टि संस्कार आदि।

गृह्यकर्मकाण्डों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन आधुनिक मनोविज्ञान के मूलाधार विषयों के आधार पर किया गया है। आधुनिक मनोविज्ञान के मुख्य विषय क्रमशः इस प्रकार हैं– Mind (मन), Emotion (संवेग), Motivation (प्रेरणा), Sensation (संवेदना), Perception (प्रत्यक्षीकरण), Personality (व्यक्तित्त्व), Imagination – Thinking (कल्पना एवं चिंतन), Remembering (स्मरण), Forgetting (विस्मरण), Intelligence (बुद्धि), Feeling (भाव या अनुभूति), consciousness (चेतना) and Mental Hygiene (एवं मानसिक स्वास्थ्य) etc (आदि)।[2]

---

1. पारस्कर गृह्यसूत्र–2/1
2. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश–निर्मला शेरजंग।

पञ्चमहायज्ञ

गृह्यकर्मकाण्डों के अन्तर्गत 'पञ्चमहायज्ञ' की परम्परा वैदिक काल से निरन्तर प्रवाहमान् है। 'पञ्चमहायज्ञ' सामान्य गृहस्थ के द्वारा सम्पादित किया जाने वाला मानवीय एवं नैतिक कृत्य है। शतपथ ब्राह्मण के कथनानुसार "केवल पाँच ही 'महायज्ञ' है, ये महान सत्र हैं–भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ एवं ब्रह्मयज्ञ"[1] तैत्तिरीयारण्यक का कथन है–"पञ्चमहायज्ञ अजस्र रूप से बढ़ रहे हैं, ये क्रमशः देवयज्ञ पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ एवं ब्रह्मयज्ञ है।"[2] संक्षेप में पञ्चमहायज्ञों का क्रमिक स्वरूप इस प्रकार है–

पञ्चमहायज्ञ का संक्षिप्त वर्णन

(1) ब्रह्मयज्ञ–इस कृत्य में प्रातःकाल एवं संध्या के समय नित्य इश्वरोपासना एवं वेदाध्ययन किया जाता है। स्वाध्याय के अवसर पर साम या यजुर्वेद का एक ही मंत्रपाठ 'ब्रह्मयज्ञ' कहा जाता है।

(2) देवयज्ञ–इस कृत्य में किसी देव को साध्य स्वीकार करके, समिधा की आहुति अग्नि में दी जाती है।

(3) पितृयज्ञ– इस कृत्य में अपने पितरों एवं पूर्वजों को स्वधा शब्द के साथ आहुति प्रदान करते हैं। पितरों को जल मात्र प्रदान करना भी पितृयज्ञ है।

(4) बलिवैश्वदेव यज्ञ या भूतयज्ञ–इस कृत्य में विभिन्न जीवों को भोजन का ग्रासपिण्ड प्रदान किया जाता है।

(5) अतिथि यज्ञ– इस कृत्य में ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है। अतिथि यज्ञ में अन्य वर्णों का भी आतिथ्य किया जाता है।

---

1. शतपथ ब्राह्मण–11/5/6/1
2. तैत्तिरीयारण्यक–11/10

पञ्चमहायज्ञों की उपयोगिता

वैदिक कर्मकाण्डों के अन्तर्गत श्रौतयज्ञों में गृहस्थ लोगो को यज्ञ सम्पादित कराने के लिये पुरोहितों की आवश्यकता होती है एवं गृहस्थ का स्थान गौण रहता है, परन्तु पञ्चमहायज्ञ सम्पादित करने के लिये गृहस्थों को पुरोहितों की विशेष आवश्यकता नहीं होती है। पञ्चमहायज्ञों के अन्तर्गत गृहस्थ–यज्ञकर्त्ता देवों, प्राचीन ऋषियों ,अपने पूर्वजों या पितरों, जीवों एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रति अपने दायित्त्व का निर्वाह करता है, किन्तु श्रौतयज्ञों में किये जाने वाले कृत्य का मुख्य उद्देश्य स्वर्ग, सम्पत्ति, पुत्रादि की अभिलाषा से है। अतः पञ्चमहायज्ञों की विवेचना में यह तथ्य प्रकट होता है कि ये यज्ञ, श्रौतयज्ञों से अपेक्षाकृत् अधिक प्रचलित स्वरूप धारण करते हुये नैतिकता एवं आध्यात्मिकता से परिपूर्ण हैं।

पञ्चमहायज्ञ सम्पादन के मूलतत्त्व

वस्तुतः ब्राह्मणग्रंथों में व्याख्यायित श्रौतकर्मकाण्ड सभी लोगों के लिये सहज नहीं था, परन्तु स्वर्ग को प्राप्त कराने वाली अग्नि में सामान्य लोग भी एक समिधा मात्र डालकर अपने अभीष्ट देवों के प्रति समादर का भाव प्रकट कर सकते थें। सामान्य प्रकृति के जनमानस एक–दो ऋचाओं का स्तवन करके भी अपने पुरातन् ऋषियों एवं मनीषियों को भी श्रद्धा समर्पित कर सकते थें। इसी क्रम में मनुष्य अपने पूर्वजों व पितरों को भी जलमात्र समर्पित करके, उनको तुष्ट करके पुरूषार्थ की प्राप्ति कर सकता था। इस प्रकार पञ्चमहायज्ञ की व्यवस्था करने के पीछे मूलतत्त्व यही है कि प्रकृति का सामान्य से सामान्य मनुष्य अपने आध्यात्मिक दायित्त्वों का निर्वहन करके वैदिक परम्परा से अपने जीवन के पुरूषार्थ की प्राप्ति करने में पूर्णतः सक्षम हो सकें। मनु के अनुसार व्यवहार निर्माताओं ने पञ्चमहायज्ञ को संस्कारों में परिगणित किया, जिससे पञ्चमहायज्ञ करने वाले अपने स्वार्थपरक् भावना से उठकर अपने आत्मा का उन्नयन एवं शरीर को पवित्र करके, उसे उच्चतर पदार्थों के योग्य बनायें"।[1]

बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार "हुत एवं प्रहुत में होम (देवयज्ञ) एवं बलि (भूतयज्ञ) के रूप में प्रयुक्त हुये हैं"।[2]

शांखायन सूत्रानुसार–क्रमशः अग्निहोत्र (या देवयज्ञ), बलि (भूतयज्ञ), पितृयज्ञ एवं ब्राह्महुत (या मनुष्ययज्ञ) है।[3]

---

1. मनु–2/28
2. बृहदारण्यकोपनिषद् 1/5/2
3. शांखायन गृह्यसूत्र–1/10/7

ब्रह्मयज्ञ

'ब्रह्मयज्ञ' पञ्चमहायज्ञों के अन्तर्गत आने वाला अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यज्ञ है। इसके विषय में प्राचीनतम वर्णन शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता है–"ब्रह्मयज्ञ प्रतिदिन का वेदाध्यन है"।[1] इस ब्राह्मण में ब्रह्मयज्ञ के आवश्यक उपकरणों में जुहू ,चमस, उपभृत, ध्रुवा, स्रूव, अवभृथ को स्वीकार किया गया है। वाणी, मन, नेत्र ,मानसिक–शक्ति, सत्य एवं निष्कर्ष भी ब्रह्मयज्ञ में उपस्थित रहते है, इन्हें स्वर्ग का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो प्रतिदिन वेदाध्यन (स्वाध्याय) करता है, उसे तिगुना फल प्राप्त होता है, यह अत्यन्त बहुमूल्य दान देने के उपरांत प्राप्त होता है। ब्रह्मयज्ञकर्त्ता को देवगण प्रसन्न होकर, सुरक्षा, सम्पत्ति, आयु, बीज एवं अन्य कल्याणकारी आशीर्वाद प्रदान करते हैं।

"शतपथ ब्राह्मण में" वेदों के अतिरिक्त 'ब्रह्मयज्ञ' में अन्य ग्रन्थों के अध्ययन के विषय में भी कहा गया है, यथा–अनुशासन (वेदांग), विद्या (सर्प एवं देवविद्या) वाकोवाक्य (ब्रह्मोद्य नामक धार्मिक वाद–विवाद) इतिहास–पुराण, गाथायें एवं नराशंसी (नायकों की प्रशंसा में कही गयी कविताएँ) का अध्ययन करने के लिये कहा गया है।"[2] तैत्तिरीयारण्क के अनुसार "ब्रह्मयज्ञ करने वाले को घर से पूर्व या उत्तर या उत्तर–पूर्व में इतना दूर चला जाना चाहिये, जहाँ से गाँव के घरों के छत्ते न दिखायी पड़ें। जब सूर्योदय होने लगे तो उसे यज्ञोपवीत को दाहिने हाथ के नीचे डालकर एक पवित्र स्थान पर बैठ जाना चाहिये। अब उसे शीर्ष, नेत्रों, नासिका–छिद्रों, कर्णो एवं हृदय का स्पर्श करना चाहिये, दर्भ की दरी बिछाकर पूर्वाभिमुख होकर, पद्मासन मुद्रा में बैठकर वेदाध्ययन करना चाहिये। वस्तुतः दर्भ भाँति–भाँति के जलों एवं जड़ी–बूटियों की मधुरता से युक्त होने से दर्भासन, वेदाध्ययन को माधुर्य से परिपूर्ण कर देता है। अपने बाँये हाथ को दाहिने पैर पर रखकर करतल को करतल से ढककर एवं दो हाथों के मध्य में दर्भ को रखकर ओम् कहना चाहिये। यह तीनों

1. शतपथ ब्राह्मण–11/5/6/3–8
2. शतपथ ब्राह्मण–11/5/6/8

संहिताओं का प्रतिनिधि है, यह वाणी है, सर्वोत्तम शब्द है एवं ऋक् वेद में कहा गया है। अब वह (वेदपाठी) "भूः, भुवः एवं स्वः" का उच्चारण करता है, इस प्रकार तीनों वेदों (संहिताओं) का प्रयोग करता है। यह वाणी सत्य है, इसके द्वारा सत्य को अपनाता है। वह तीन बार गायत्री पढता है एवं सविता को संबोधित करता है। सूर्य, यज्ञ का सृष्टा है, वह स्वयं यश को प्राप्त करता है, अब वह द्वितीय दिवस पर अग्रिम वेदपाठ प्रारम्भ करता है।"[1]

जब वेदपाठी ब्रह्मयज्ञ का समापन करे, तो वह इस मन्त्र का उच्चारण करता है–

"नमो ब्रह्मणे नमो स्वग्नये नमः पृथिव्यै नमः ओषधीभ्यः"।

नमो वाचे नमो वाचस्पतये नमो विष्णुवे बृहते करोमि।"[2]

इस प्रकार यज्ञकर्त्ता को मन्त्र का तीन बार उच्चारण करना चाहियें। इसके उपरांत आचमन करके स्वगृह पुनः आ जाने के साथ ही 'ब्रह्मयज्ञ' सम्पन्न हो जाता है। आश्वलायन के अनुसार "स्वाध्याय के लिये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इतिहास एवं पुराण का अध्ययन किया जाता है, परन्तु मनोयोगानुसार यथासम्भव स्वाध्याय करना चाहियें।[3] धर्मसिन्धु के अनुसार "आचमन एवं प्राणायाम सम्पन्न करने के उपरांत इस मंत्र के साथ संकल्प लेना चाहिये–'श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं ब्रह्मयज्ञं करिष्ये तदंगतया देवर्ष्याचार्य तर्पणं करिष्ये'।

यदि पिता न हो तो "पितृतर्पणं च करिष्ये" का संयोग कर देना चाहियें। इसके उपरांत धर्मसिन्धु ब्रह्मयज्ञ की व्यवस्था उन सभी के लिये करता है, जो सभी वेद जानते है या एक वेद जानते हैं या वेद का कोई अंश जानते है या उनके पास समय न हो, तो भी ब्रह्मयज्ञ करना अनिवार्य है"।[4] इस प्रकार वेद या वेद के किसी भी ऋचा मात्र का अध्ययन भी "ब्रह्मयज्ञ" कहा जा सकता है।

---

1. तैत्तिरीयारण्यक–2/11
2. तैत्तिरीयारण्यक–2/13
3. आश्वलायन–3/3/1
4. धर्मसिन्धु–(3, पूर्वार्ध, पृष्ठ स0–299)

पितृयज्ञ

पञ्चमहायज्ञों की परम्परा में 'पितृयज्ञ' भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृत्य है। यह गृहस्थ के पितरों (पूवजों) का पुनुरूद्धार एवं उनकी संतृप्ति प्रदान करने वाला यज्ञ है। वस्तुतः 'पितृयज्ञ'[1] शब्द ऋग्वेद में प्राप्त होता है, परन्तु इसका अर्थ पूर्णतः स्पष्ट न होकर अनिश्चित है।"

पितृयज्ञ सम्पादित करने की पद्धतियाँ क्रमशः इस प्रकार है–

(1) तर्पण के माध्यम से पितृयज्ञ सम्पन्न किया जाता है।[2] तर्पण के अन्तर्गत सामान्य क्रम में तो अपने पितरों को जल देना चाहिये, परन्तु पितृपक्ष में सम्पूर्ण विधान के साथ पितरों को जल–तर्पण किया जाता है।

(2) बलिहरण या भूतयज्ञ से भी 'पितृयज्ञ' सम्पन्न किया जाता है।[3] जिसके अन्तर्गत अपने पूर्वजों को पक्वान्न का पिण्डदान समर्पित किया जाता है, जिससे पूर्वजों के सूक्ष्म को तृप्ति मिलती है।

(3) सामान्य गृहस्थ जीवन में रहने वाले व्यक्ति भी प्रतिदिन श्राद्ध कृत्य करते है।[4] इस कृत्य में प्रतिदिन न्यूनतम एक ब्राह्मण की भोज की व्यवस्था की जाती है। प्रतिदिन सम्पन्न किया जाने वाला 'श्राद्ध–कर्म' विशेष श्राद्ध–कृत्य से भिन्न होता है। प्रतिदिन श्राद्ध में पिण्डदान नहीं होता है।

इस प्रकार पितृयज्ञ में गृहस्थ अपने पितरों को स्वधा शब्द के साथ आहुति प्रदान करते हैं। पितरों या पूर्वजों को जल मात्र समर्पित करके भी उनके प्रति समादर–भाव प्रकट किया जाता है।

---

1. ऋग्वेद–10/16/10
2. मनु–3/70 एवं 283
3. मनु–3/91
4. मनु–3/82–83

देवयज्ञ

पञ्चमहायज्ञ में 'देवयज्ञ' भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यज्ञ है, क्योंकि देवदृष्टि के अभाव में मनुष्य के जीवन में सार्थक आध्यात्मिक उन्नयन नही हो सकता है। "देवयज्ञ का सम्पादन अग्नि में समिधा मात्र प्रदान करने से होता है"।[1] देवयज्ञ में "देवता का नाम लेकर अग्नि में 'स्वाहा' शब्द के उच्चारण के साथ मात्र एक समिधा समर्पित करना भी 'देवयज्ञ' के समान है।[2] मनु ने होम को ही देवयज्ञ की संज्ञा दी है।[3]

सामान्य क्रम में ऐसा स्वीकार किया जाता है कि अग्नि देवस्वरूप है तथा यजमान के द्वारा प्रदान की गयी आहुति को अन्य देवताओं तक पहुँचाने का संसाधन भी है। हिन्दूशास्त्र के अनुसार जब भी किसी पूजा, व्रत, अनुष्ठान इत्यादि का विधान किया जाता है, तो समापन सत्र में अग्निपूजन अर्थात् होम इत्यादि की व्यवस्था की जाती है, अन्यथा सम्पूर्ण पूजन–क्रम व्यर्थ हो जाता है। अग्नि के माध्यम से प्राप्त समिधायें जब देवों के समीप पहुँचतीं हैं, तो यजमान के द्वारा 'देवयज्ञ' की संकल्पना पूर्ण होती है। विभिन्न प्रकार के गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों पर दृष्टिपात् किया जाये तो, सामान्यतः देवताओं के लिये होम या देवयज्ञ किया जाता है।

आश्वलायन धर्मसूत्र ने देवयज्ञ के देवताओं की व्यवस्था इसप्रकार की है– "अग्निहोत्र के देव (सूर्य या अग्नि एवं प्रजापति), सोम, वनस्पति, अग्नि एवं सोम, इन्द्र एवं अग्नि, द्यौ एवं पृथ्वी, धन्वन्तरि, इन्द्र विश्वेदेव एवं ब्रह्मा" देवता है।[4]

याज्ञवल्क्य एवं मनु के अनुसार "तर्पण एवं देवपूजा की व्याख्या करने के उपरांत पञ्चमहायज्ञों में होम को सम्मिलित किया जाता है।"[5] 'स्मृति–मुक्ताफल'

---

1. तैतिरीयारण्यक–2/10
2. बौधायन धर्मसूत्र 2/6/4
3. मनुस्मृति–3/70
4. आश्वलयन गृह्यसूत्र–1/2/2
5. याज्ञवल्क्य–1/100, मनु – 2/176

के अन्तर्गत मरीचि एवं हारीत के कथनानुसार "प्रातः होम के उपरात या माध्याह्न में ब्रह्मयज्ञ एवं तर्पण के उपरांत देवपूजा सम्पादित की जाती है"।[1] मध्य एवं आधुनिक काल में होम सम्बन्धी प्राचीन विचार का स्थान मूर्तिपूजा ने ले लिया।

प्राचीनकाल में वैदिक संहिताओं के मतानुसार अग्नि, इन्द्र, वरूण, सूर्य एवं अन्य देवताओं का पूजन परोक्ष रूप से किया जाता था। "ऋग्वेद में इन्द्र के अंगों एवं पार्श्वों का वर्णन है और उन्हें अपनी जिह्वा से मधुपान के लिये कहा गया है।"[2]

"मूर्तिपूजा के अन्तर्गत वे पदार्थ आते हैं, जिनसे. मूर्तियों का निर्माण होता है, वे प्रमुख देवता जिनकी मूर्तिपूजा होती है, मूर्ति को निर्मित करने में शरीरादि अवयवों का आनुपातिक क्रम, मूर्तियों एवं देवालयों की स्थापना एवं मूर्ति-विषयक कृत्य आते हैं।"[3] वस्तुतः मूर्तिपूजा को एक प्रकार का साकार देवपूजन कहा जा सकता है, जिसका वर्तमान भौतिक जगत् में सामान्य प्रचलन है। भारतवर्ष में लगभग समस्त हिन्दू मन्दिरों में साकार देवपूजन का लक्षण देखने को मिलता है। इस मूर्तिपूजन में जो कुछ भी फल, फूल, अक्षत, पत्र, जल इत्यादि देवों को प्रदान कर, उनका स्तवन किया जाता है, इसे 'देवयज्ञ' का ही प्रकट रूप माना जा सकता है। वर्तमान भौतिक जगत् में प्रतिदिन लोग अग्नि में समिधाओं को नही डालते है, परन्तु मूर्तिपूजन के अवसर पर देवों के प्रति जो कुछ भी श्रद्धा-सुमन का अर्पण किया जाता है, उसे देवयज्ञ के अन्तर्गत स्वीकार क़िया जा सकता है।'व्यवहार मयूख' के अन्तर्गत शाकल के कथनानुसार "संयुक्त परिवार के सभी सदस्य अलग-अलग रूप से सन्ध्या, ब्रह्मयज्ञ एवं अग्निहोत्र कर सकतें हैं, परन्तु देवपूजा एवं वैश्वदेव में पूरे परिवार के सदस्य एकत्रित होंगें"।[4]

---

1. स्मृतिमुक्ताफल-आह्निक, पृ0 383
2. ऋग्वेद-8/17/5
3. धर्मशास्त्र का इतिहास-पी0 वी0 काणे-पृ0 392
4. व्यवहार मयूख-पृ0 सं0-133

"भागवत्पुराण के कथनानुसार "मूर्तियाँ आठ प्रकार की हो सकती हैं, जिसमें–प्रस्तर, लौह, काष्ठ, चंदन, चित्र, बालुका, बहुमूल्य रत्नों की तथा मानसिक मूर्तियाँ होती हैं।"[1]

सामान्यतः मूर्तिपूजा में विष्णु सूर्य, देवी दुर्गा, गणेश एवं सूर्य की पूजा की जाती है। शंकराचार्य जी ने पञ्चायतन पूजा को स्वीकृति प्रदान की है।

'विष्णु धर्मसूत्र' के अनुसार "देवपूज के पूर्व सम्यक् स्नान करके, हस्त एवं मुख का प्रच्छालन करके तथा आचमन के उपरांत यज्ञस्थल पर मूर्ति के समकक्ष अनादि एवं अनन्त वासुदेव की पूजा करनी चाहिये।[2]

सामान्यतः षोडशोपचार पूजन की व्यवस्था प्राप्त होती है, जिसमें "आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, अनलेपन या गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, नमस्कार, प्रदक्षिणा एवं विसर्जन व उद्वासन के कृत्य होते हैं।"[3]

1. भागवत्पुराण–11/27/12
2. विष्णुधर्मसूत्र–अध्याय–65
3. पूजाप्रकाश

वैश्वदेव यज्ञ

देवताओं को पक्वान्न समर्पित करना 'वैश्वदेव यज्ञ' कहा जाता है। दक्ष के कथनानुसार दिवस के पाँचवें भाग में सामान्य गृहस्थ जीवन में रहने वालों को अपने सामर्थ्य के अनुसार देवताओं, पितरों, मनुष्यों, यहाँ तक कि कीटादि सम्प्रदाय में रहने वाले जीवों को भी अन्न देना चाहिये"।[1] पाराशर माधवीय के अनुसार वैश्वदेव का तात्पर्य है प्रतिदिन के लिये तीन यज्ञ अर्थात् देवयज्ञ, भूतयज्ञ एवं पितृयज्ञ।[2] सामान्य क्रम में 'वैश्वदेव–यज्ञ' में सभी देवताओं को पक्वान्न की आहुति प्रदान की जाती है।

पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार "वैश्वदेव के देवता क्रमशः इसप्रकार है–ब्रह्मा, प्रजापति, गृह्या, कश्यप, अनुमति इत्यादि"।[3]

समस्त पुरातन स्मृतिग्रन्थों में ऐसा सामान्य नियम प्राप्त होता है कि वैश्वदेव, प्रातः एवं सायं दोनों अवसर पर सम्पादित करना चाहिये, परन्तु आगे चलकर इसे प्रातःकाल में सम्पादित करने की व्यवस्था प्राप्त होती है।

ऋग्वेद के अनुसार "जुष्टो दमूना एवं एह्यग्ने"।[4] मंत्र को अग्नि के आह्वान के लिये प्रयुक्त किया जाता है एवं अग्नि सम्बन्धी अन्य लक्षण भी अग्नि ध्यान के निमित्त प्रयोग में लाया जाता है। इस कृत्य में अपने भोज्य–पदार्थ के निमित्त प्रयुक्त होने वाले 'अन्न' के कुछ भाग को किसी पात्र में रख देते हैं एवं उसमें घृत मिश्रित करके तीन भागों में विभक्त कर देते हैं। अब वामहस्त को अपने हृदय पर रखकर, दक्षिणहस्त के माध्यम से एक लघु भोजन–पिण्ड को निकालकर, उसे अंगुष्ठिका से विभिन्न भागों में विभाजित कर देते हैं। अब भोज्य–पिण्ड के अतिलघुखंड या चूर्ण को दक्षिण हस्त से सूर्य,

---

1. दक्ष–2/56
2. पाराशर माधवीय–1/1, पृ0 389
3. पारस्कर गृह्यसूत्र–2/9
4. ऋग्वेद–1/76/2

प्रजापति, सोम, वनस्पति, अग्नि–षोम, इन्द्राग्नि, द्यावा–पृथ्वी, धन्वन्तरि, इन्द्र, विश्वेदेव एवं ब्रह्मा को समर्पित किया जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी देवों को भोज्य–पदार्थ समर्पित करने के उपरांत अग्नि (यज्ञकुंड) से "मान नस्तोके"[1] मन्त्रोच्चारण के साथ भोज्य–भस्म को यज्ञकर्त्ता अपने शरीर के विभिन्न अवयवों पर लगाकर स्वयं को पवित्र करता हुआ "वैश्वदेव–यज्ञ" सम्पादित करता है। 'वैश्वदेवयज्ञ' के समापन में यज्ञकर्त्ता अपने बुद्धि, स्मृति, यश इत्यादि के अभिवृद्धि के लिये अग्नि का स्तवन एवं अर्चना करता है।

---

1. ऋग्वेद–1/114/8

बलिहरण या भूतयज्ञ

'भूतयज्ञ' के विषय में सभी गृह्यसूत्रों एवं अन्य सम्बद्ध ग्रन्थों में समानता का भाव नहीं है। 'आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार विविध देवताओं को बलि या वैश्वदेव के समय इस प्रकार पक्वान्न का अंश प्रदान किया जाता है–''देवयज्ञ वाले देवताओं, जलों, जड़ी बूटियों, वृक्षों, घर एवं घरेलू देवताओं (कुलदेवताओं) इन्द्र तथा उनके अनुचरों, यम तथा उसके अनुचरों, वरूण तथा वरूण के अनुचरों, सोम तथा उसके अनुचरों (कई दिशाओं मे) ब्रह्मा तथा ब्रह्मा के अनुचरों (मध्य में), विश्वेदेव, दिन में चलायमान सभी प्राणियों एवं उत्तर में राक्षसों को बलि प्रदान की जाती है। ''पितरों को स्वधा'' शब्दों के साथ शेषांश दक्षिण में प्रदान करते हैं''[1]। बलिहरण की प्रक्रिया में यज्ञोपवीत को दक्षिण स्कन्ध पर रख लेना चाहिये। यदि भूतयज्ञ की प्रक्रिया रात्रिकाल में हो तो ''दिवस काल में सभी प्राणियों'' के स्थान पर ''रात्रि में विचरणशील सभी प्राणियों'' के विषय में मंत्रोच्चारण के साथ बलि रूपी आहुति समर्पित की जाती है।

''भूतयज्ञ में आहुति अर्थात् बलि अग्नि में समाहित न करते हुये पृथ्वी पर प्रदान किया जाता है। सर्वप्रथम भूस्थल का पवित्रीकरण दोनों हाथ से स्वच्छ करने के उपरांत जल छिड़क कर पूर्णतया पवित्र करके, बलिपिण्ड समर्पित किया जाता है।[2]

आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार ''वैश्वदेव पक्वान्न कुत्तों एवं चाण्डालों को प्रदान करना चाहिये''।[3] मनु के विचारानुसार ''वैश्वदेव के उपरांत सभी दिशाओं में इन्द्र, यम, वरूण, सोम तथा उनके अनुचरों को, द्वार पर मरूतों को, जलों को, वृक्षों को, शिखर की लक्ष्मी को, घर की नींव की भद्रकाली को, गृह के

---

1. आश्वलायन गृह्यसूत्र–1/2/3–11
2. आपस्तम्ब धर्मसूत्र–2/2/3/15
3. आपस्तम्ब धर्मसूत्र–2/4/9/5–6 सर्वान् वैश्वदेवे भागिनः कुर्वीताश्व चाण्डालेभ्य'। नानर्हदभ्यो दद्यादित्येके।।

मध्य के ब्रह्मा एवं वास्तोष्पति को, विश्वेदेव को (आकाश मे फेंककर), दिवस–काल में चलने वाले प्राणियों को (जब भूतयज्ञ दिवस काल में किया जाता है) एवं रात्रि में विचरणशील (रात्रिचर) प्राणियों को बलि प्रदान की जाती है।[1] सामान्य जनजीवन में रहने वाले लोग गृह के प्रथम खण्ड में सबके कल्याण हेतु बलि समर्पित करते हैं तथा दक्षिण दिशा में बलि का अवशिष्टांश पितरों को समर्पित किया जाता है। साधारण गृहस्थ का यह प्रयास होना चाहिये कि शुद्धता पूर्वक अर्थात् धूल, बालुका कण इत्यादि से रहित भोजन–पिण्ड को कुत्तों, चाण्डालों, जातिच्युतों, कुष्ठपीड़ितों, काकपक्षी एवं कीट–पतंगों के तृप्ति हेतु समर्पित करें। सामान्य क्रम में पक्वान्न के रूप में भोज्य–पिण्ड को प्रकृति के विभिन्न जीवों एवं पितरों को भी समर्पित करते हैं। श्राद्धकर्म में भी गृहस्थ अपने पितरों को मृत्तिका की भूमि का निर्माण करके एवं उसका पवित्रीकरण करने के उपरांत पक्वान्न या भोज्य–पिण्ड को भूमि पर पितरों के पवित्र सूक्ष्म की तृप्ति के निमित्त समर्पित करते हैं। इस कृत्य को पिण्डदान या भूतबलि की स्वीकृति प्रदान की जा सकती है।

1. मनु–3/87–93

नृयज्ञ या मनुष्ययज्ञ

सामान्यतः नृयज्ञ को परिभाषित करते हुये यह कहा जा सकता है कि अतिथि का आदर एवं सत्कार ही 'मनुष्य–यज्ञ' है। ऋग्वेद के सूक्तों में भी अग्नि को यज्ञकर्त्ता के गृह में अतिथि की संज्ञा दी गयी है। ऋग्वेद में अतिथि के विषय में इस प्रकार कथन किया गया है–

"तस्य भासा भवति तस्य सखा यस्त आतिथ्यमानुषग्जुजोषत्"।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त मंत्र में अतिथि को उस व्यक्ति का रक्षक एवं मित्र बनने के लिये कहा गया है, जो उसका विधिवत् आतिथ्य करता है। अतिथि के सन्दर्भ में मनु इस प्रकार विचार प्रकट करते हैं–

एकरात्रं हि निवसन् ब्राह्मणो ह्यतिथिःस्मृतः।

अनित्यास्य स्थितिर्यस्मात्तस्मादतिथिः उच्चये[2]।

इस प्रकार श्रेष्ठ अतिथि वह व्यक्ति है, जो एक रात्रि या एक तिथि से अधिक किसी के गृह में विश्राम न करें। बलिहरण अथवा भूतयज्ञ के कृत्य सम्पन्न होने के उपरांत 'अतिथि–सत्कार' किया जाता है। बौधायन गृह्यसूत्र के अनुसार "बलिहरण के उपरांत गृहस्थ को अपने घर में अतिथि के स्वागत के लिये उतनी देर प्रतीक्षा करनी चाहिये जितने समय में गायें दुह ली जायें।[3] सामान्यतः "अतिथि सत्कार में अतिथि का श्रद्धापूर्वक स्वागत करना चाहिये, चरणों के प्रच्छालन के लिये जल देना, आसन देना, दीपक प्रज्वलित करना, भोजन एवं शयन का स्थान देना, व्यक्तिगत् ध्यान दिया जाता है एवं उसके प्रस्थान के समय कुछ दूर तक उसके साथ जाकर पहुँचाया जाता है"।[4] वस्तुतः करूणा,

---

1. ऋग्वेद–4/4/10
2. मनु–3/102
3. बौधायन गृह्यसूत्र–2/9/1–2
4. धर्मशास्त्र का इतिहास– पी० वी० काणे–पृ० 410

दया, स्नेह नामक मनोवृत्ति या प्रेरक तत्त्व ही अतिथि–सत्कार का प्रमुख कारण कहा जा सकता है।

सामान्यतः अतिथि को भोजन करवा देने के उपरांत अन्य अतिथि आ जायें तो पुनः भोजन का निर्माण करवाना चाहिये, परन्तु पुनः भोजन करवाने के लिये वैश्वदेव एवं बलिहरण की क्रिया आवश्यक नहीं है। मनुष्ययज्ञ में गृह पर आये हुये अतिथि, देव रूप (अग्नि) हो या साधारण मनुष्य रूप हो, उन सभी का श्रद्धापूर्वक अतिथि स्वागत की प्रक्रिया को ही 'नृयज्ञ' की संज्ञा दी जाती है, परन्तु नृयज्ञ की प्रक्रिया के पूर्व वैश्वदेव एवं बलिहरण् की क्रिया अनिवार्य मानी जाती है। नृयज्ञ एक नैतिक एवं मानवीय कृत्य है, इसे सम्पादित करने से व्यक्ति की मनोवृत्ति धर्मपरक् हो जाती है। प्रत्येक गृहस्थ को यथासम्भव नृयज्ञ अवश्य करना चाहिये, क्योंकि इसके बिना पञ्चमहायज्ञ अपूर्ण हैं।

पञ्चमहायज्ञ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

गृह्यकर्मकाण्डों के अन्तर्गत पञ्चमहायाग का सामान्य गृहस्थ जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इसके प्रयोग से सामान्य गृहस्थ में नैतिकता एवं मानवता की प्रवृत्ति विकसित होती है। वस्तुतः गृह्यकर्मकाण्ड, श्रौतकर्मकाण्डों के अपेक्षाकृत् अधिक नैतिक एवं आध्यात्मिक है। पञ्चमहायाग के अन्तर्गत 'ब्रह्मयज्ञ' में प्रतिदिन वेदाध्ययन के लिये कहा गया है। इस यज्ञ का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि सामान्य व्यक्ति में 'मानसिक–सुख' (Mental Satisfaction)[1] नामक मूलप्रवृत्ति होती है, यह प्रवृत्ति उस व्यक्ति विशेष को उन तथ्यों के प्रति प्रेरित करती है, जिससे उसे मानसिक–सुख प्राप्त हो सके। इस प्रकार वेदाध्ययन करने से एक प्रकार का 'मानसिक–सुख' प्राप्त होता है। वैदिक ऋचाओं के स्तवन से देवगण भी अन्तः से द्रवित होकर वेदपाठी को विशिष्ट लाभ प्रदान करते हैं। मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है कि जब भी किसी व्यक्ति के प्रति सद्भाव व्यक्त किया जाता है, तो वह अन्तः से द्रवित होकर उस व्यक्ति के कल्याण का चिंतन करता है। वेदाध्ययन के लिये व्यक्ति को वैदिक नियम–संयम का पालन करना पड़ता है, जिससे व्यक्ति के अन्तः में विद्यमान काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि का शोधन हो जाता है एवं उस व्यक्ति के व्यक्तित्त्व का वास्तविक उन्नयन होता है। व्यक्तित्त्व के विषय में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक Allport का कथन इस प्रकार है– **"Personality is the dynamic organization within the individual of these psycho-physial systems that determine his unique adjustment to his environment."[2]**

इस प्रकार वेदाध्ययन या 'ब्रह्मयज्ञ' व्यक्ति के व्यक्तित्त्व के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है।

---

1. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश–निर्मला शेरजंग।
2. Allport, Personality, A Psychological 'Interpretation 1957, P-48.

मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है कि "व्यक्ति में नैतिक मन का संचालन आत्मबोध के द्वारा होता है। आदर्श व्यक्तित्त्व का संगठन इदम् और नैतिक मन के सन्तुलित समन्वय के कारण होता है।"[1] यह तथ्य तभी समीचीन हो सकता है, जबकि सामान्य व्यक्ति वेदाध्ययन या 'ब्रह्मयज्ञ' सम्पादित करे। इस कृत्य में आचमन एवं प्राणायाम की क्रियाओं के माध्यम से भी व्यक्ति का मानसिक उन्नयन होता है एवं उसकी चित्तवृत्ति शांत हो जाती है।

पञ्चमहायज्ञ में देवयज्ञ भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यज्ञ है, अग्नि में समिधायें प्रदान करके देवयज्ञ का सम्पादन किया जाता है। देवयज्ञ करने के पूर्व सम्बद्ध विषय में रूचि एवं एकाग्रता की स्थिति अनिवार्य है, अन्यथा चंचलमन देवयज्ञ को सम्पन्न करने में व्यवधान उत्पन्न करेगा। मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है कि विषय में समर्पण तभी उत्पन्न हो सकता है, जबकि व्यक्ति की विषय में रूचि एवं एकाग्रता की स्थिति हो। प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक डब्ल्यू मैगडोगल का कथन है–**"Interest is latent attention, attention is interest in action."**[2] सामान्य क्रम मे पूजा एवं व्रत–विधान भी देवयज्ञ के अन्तर्गत आता है, ऐसा करने से वैचारिक शांति, मन का स्थिरीकरण एवं सात्विक विचारधारा का आविर्भाव होता है। 'देवयज्ञ' में मूर्तिपूजन की भी परम्परा है, इससे ज्ञात होता है कि व्यक्ति के चित्त को विषय में केन्द्रस्थ करने के लिये यह व्यवस्था की गयी है, क्योंकि चित्तवृत्ति के एकाग्रता के अभाव में व्यक्ति किसी भी कार्य में स्थायी रूप से संलग्न नही रहता है। मनोविज्ञान भी अवधान (Attention) नामक विषय को इसी से सम्बद्ध करता है। इस प्रकार देवयज्ञ के माध्यम से सामान्य गृहस्थ देवों के मन को अपनी भावनाओं से अलंकृत करके स्वयं को पुष्ट करते हैं। 'वैश्वदेवयज्ञ' में सामान्य गृहस्थ देवताओं, पितरों, मनुष्यों यहाँ तक की कीटजीवों को भी पक्वान्न समर्पित करते हैं। वैश्वदेव में सभी देवताओं

---

1. जयनरायण सुमन–सामान्य मनोविज्ञान–पृ0स0–268
2. शिक्षा मनोविज्ञान–डा0 एस0 एस0 माथुर–पृष्ठ–294

को पक्वान्न की आहुति समर्पित करने के कारण इसे 'वैश्वदेव' कहते हैं। इस कृत्य को सम्पादित करने से सामान्य गृहस्थ को आत्मिक सुखानुभूति होती है, जिससे व्यक्ति का अहं भाव शांत हो जाता है एवं उसके अन्तः में परोपकार एवं कल्याण की भावनायें जागृत होती हैं। इस कृत्य में श्रद्धा–समर्पण से मनुष्य पाप की भावना से मुक्त होने की अनुभूति करता है। मनोविज्ञान के अनुसार ऐसी स्थिति को एक सामञ्जस्यपूर्ण संतुलित मानसिक स्थिति की संज्ञा दी जा सकती है। मानसिक स्वास्थ्य के विषय में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक 'क्रो एण्ड क्रो' का कथन है– **"Mental Hygiene is a Science that deals with the human welfare and pervade all fields of human relationship."**[1] इस प्रकार देवयज्ञ के माध्यम से व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य प्रबुद्ध होता है।

'वैश्वदेवयज्ञ' में सामान्य गृहस्थ व्यक्ति "जुष्टो दमूना एवं एह्याग्ने"।[2] मंत्र की धारणा शक्ति (Retaintion) के आधार पर अग्नि का आह्वान् करता है। इस कृत्य को सम्पादित करने से व्यक्ति को बुद्धि, स्मृति, यश, समृद्धि, इत्यादि की प्राप्ति होती है। बुद्धि एवं स्मरण शक्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, ये व्यक्ति के समस्त मार्ग को सफल एवं सुकर बनातीं हैं। मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है कि "किसी व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक संस्कार ही उसकी स्मृति है।"[3] इस प्रकार 'वैश्वदेवयज्ञ' व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक संस्कार को पुष्ट करके, उसके बुद्धि एवं स्मरण–शक्ति को दृढ़ करता है। 'भूतयज्ञ' में सामान्य गृहस्थ शुद्धता पूर्वक भोजन का पिण्ड बनाकर कुत्तों, चाण्डालों जातिच्युतों, कुष्ठपीड़ितों, काक–पक्षी एवं कीट–पतंगों के तृप्ति हेतु समर्पित करते हैं। वस्तुतः भोजन–पिण्ड मुख्यतः देवों एवं अपने पूर्वजों को प्रदान करते हैं। भूतयज्ञ के सम्पूर्ण कृत्य का अवलोकन करने पर यह ज्ञात होता है कि सूक्ष्म रूप में देव

---

1. Crow & Crow, Mental Hygiene, p.4.
2. ऋग्वेद–1/76/2
3. डा0 टण्डन–प्रयोगात्मक मनोविज्ञान–पृ0 136

एवं पूर्वजों को एवं भौतिक रूप में अन्य प्राणियों को बलिपिण्ड या भोज्य–पदार्थ की आहुतियाँ या भोज्य–पदार्थ प्रदान किया जाता है। 'भूतयज्ञ' की दोनो ही प्रकार की अहुतियॉ स्नेह एवं सद्‌भाव से दी जाती है। आहुति प्रदान करने वाले के शरीर में अत्यन्त कोमल एवं मर्मस्पर्शी संवेदना की अनुभूति होती है एवं उसका अंतःकरण अहंभाव से मुक्त होकर, नैतिक मन को बहिर्गत् कर देता है, जिससे अनिर्वचनीय सुखानुभूति होती है। पूर्वजों को 'बलिपिण्ड' प्रदान करके उनके सानिध्य, प्रेम, स्नेह, वात्सल्य एवं ममत्त्व का स्मरण करते हैं। मनोविज्ञान भी स्मरण–शक्ति को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि **"Memory consists in remembering what has previously been learnt."**[1]

आधुनिक मनोविज्ञान भी प्रेम, स्नेह, वात्सल्य एवं ममत्त्व आदि मानसिक भावों को स्वीकार करता है। 'पितृयज्ञ' में भी उसी प्रकार की सुखानुभूति सामान्य गृहस्थ को होती है, जैसे बलिहरण की प्रक्रिया में अपने पूर्वजों को भोजन–पिण्ड प्रदान करने पर होती है। पितृयज्ञ में यज्ञकर्त्ता अपने पितरों के सानिध्य की अनुभूति करके आत्मिक रूप से प्रसन्न होता है। इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि अपने पितरों के अभाव में गृहस्थ मानसिक रूप से विक्षुब्ध एवं कष्टपीड़ित रहता है, परन्तु 'पितृयज्ञ' के माध्यम से अपने पितरों के सामीप्य की अनुभूति करके आनन्दित होता है।

नृयज्ञ या मनुष्ययज्ञ' में अतिथि सत्कार की महत्ता को स्वीकार किया जाता है। वस्तुतः वैदिक मनीषियों का मस्तिष्क अत्यन्त उदात्त रहा है, क्योंकि उनके द्वारा सम्पादित यज्ञों से परोपकार, जनकल्याण एवं सामाजिकता की भावना का अत्यन्त सुरम्य निदर्शन होता है। वस्तुतः दया, करूणा, स्नेह, वात्सल्य, ममत्त्व नामक प्रेरक तत्त्व या स्वच्छ मानव शरीर की स्वाभाविक मूलप्रवृत्तियाँ व्यक्ति को अतिथि–सत्कार व मनुष्ययज्ञ करने के लिये विवश करती हैं। समाज में एवं

---

1. Woodworth Psychology-1955. (शिक्षा मनोविज्ञान–डा० एस० एस० माथुर–p–236)

प्रत्येक मनुष्य में मानवता (Humanity) नामक एक प्रमुख तत्त्व होता है। मानवता की 'स्वाभाविक मूलप्रवृत्ति' ही साधारण गृहस्थ को 'नृयज्ञ' की प्रेरणा प्रदान करती है। सामान्य गृहस्थ व्यक्ति न केवल शास्त्रों के माध्यम से प्रत्युत् समाज में रहकर अधिगम एवं प्रेरणा के माध्यम से अतिथि–सत्कार के कृत्य को सम्पादित करता है। अधिगम के विषय में मनोविज्ञान का विचार इस प्रकार है –**"Learning consists to in doing something new, provided this something new is retained by the individual and reappears in his later activities."**[1]

इस प्रकार सामान्य गृहस्थ समाज में अतिथि–सत्कार की परम्परा को बाल्यकाल से ही सम्पादित करता हुआ किशोरावस्था या प्रौढ़ावस्था में करूणा, दया, स्नेह एवं परोपकार के भाव से अतिथि–सत्कार या मनुष्ययज्ञ के प्रति प्रेरित होने लगता है।

इस प्रकार सम्पूर्ण पञ्चमहायाग का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि इस कृत्य को सम्पन्न करने से व्यक्ति के व्यक्तित्त्व का उन्नयन, मानसिक सुख–वृद्धि एवं नैतिकता की अभिवृद्धि होती है, जिससे उसका भौतिक कल्याण एवं आध्यात्मिक प्रवर्द्धन भी सम्पन्न होता है। अस्तु सामान्य गृहस्थों को 'पञ्चमहायज्ञ' अवश्य सम्पादित करना चाहिये।

1. Woodwarth & Marquish, Psychology-P. 491.

चतुर्थ अध्याय
UNIVERSITY OF ALLAHABAD
QUOT RAMI TOT ARBORES
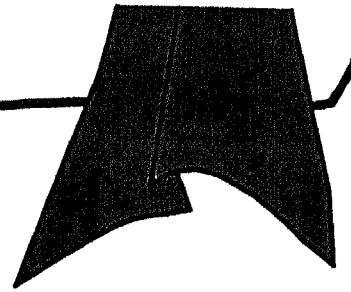
गृह्यकृत्य (अप्रधान)

गृह्यसूत्रों में कुछ ऐसे कृत्य भी आते हैं, जो वर्तमान में बहुत अधिक प्रचलित तो नही हैं, परन्तु वैदिक–परम्परा का पालन करने वाले इस कृत्य को सम्पादित करते हैं, ऐसे ही कुछ अप्रधान गृह्यकृत्यों का वर्णन इस प्रकार है–

पार्वण स्थालीपाक

गौतम के अनुसार चालीस संस्कारों में सात पाकयज्ञ संस्थाओं की भी गणना की गयी है।[1] सात पाकयज्ञों में पार्वण स्थालीपाक को भी सम्मिलित किया जाता है। व्यक्ति अर्थात् सामान्य गृहस्थ के विवाहोपरांत पत्नी विभिन्न प्रकार के भोज्य–पदार्थों को पकाती है, फिर उसे अग्निहोम के माध्यम से देवताओं को समर्पित किया जाता है। पत्नी चावल को भलीभाँति कूट कर स्थालीपाक निर्मित करती है, तदोपरांत पति, स्थालीपाक को वैदिक दर्शपूर्णमास के देवताओं एवं स्विष्टकृत् अग्नि को समर्पित करता है। अवशिष्टांश ब्राह्मणों को दान के साथ समर्पित कर दिया जाता है। इस कृत्य में "बैल की दक्षिणा केवल एक बार ही दी जाती है, उसे जीवन–पर्यन्त देने की आवश्यकता नही है"[2]। अब नवदम्पति प्रत्येक पूर्णिमा एवं अमावस्या पर पक्वान्न को अग्नि में समर्पित करते हैं। सामान्यतः जिस गृहस्थ के घर पर तीनों वैदिक अग्नियाँ नहीं रहती है, तो उसका स्थालीपाक द्रव्य अग्नि के निमित्त होता है, परन्तु जो गृहस्थ तीनों अग्नियों को गृह में प्रतिष्ठापित करता है, तो उसके द्वारा पूर्णिमा वाला स्थालीपाक "अग्निषोमीय" एवं अमावस्या के दिवस वाला स्थालीपाक 'ऐन्द्राग्न' कहलाता है।"[3] इस कृत्य में पति–पत्नी पूर्णिमा एवं अमावस्या के दिवस पर उपवास सकते है या संयमित भोजन एक बार ही ग्रहण करते हैं। इस प्रकार यह कृत्य "पार्वण–स्थालीपाक" के रूप प्रचलित है। साधारण गृहस्थ के जीवन के विवाहोपरांत यह कृत्य प्रारम्भ होकर जीवन–पर्यन्त चलता रहता है।

---

1. गौतम–8/19
2. आश्वलायन गृह्यसूत्र–1/10
3. आश्वलायन गृह्यसूत्र–1/3/8–12

चैत्री

"चैत्री" नामक कृत्य चैत्र मास की पूर्णिमा के अवसर पर सम्पादित किया जाता है। वैखानस गृह्यसूत्र के अनुसार "चैत्र पूर्णिमा में घर को भलीभाँति स्वच्छ करके, उसे पूर्णतया सुसज्जित कर दिया जाता है। पति–पत्नी नवीन वस्त्र एवं पुष्पादि धारण करके पूर्णतः अलंकृत हो जाते है, अग्नि को दो आधार दे दिया जाता है तथा देवों के लिये पात्र–विशेष में तण्डुल पकाकर "ग्रीष्मो हेमन्तः", "ऊनं मे पूर्यताम्", "श्रिये जातः" एवं "वैष्णवम्" मंत्रोच्चारण के साथ घृताहुति प्रदान करते हैं, अब पक्वान्न अर्थात् पके हुये चावल को घृत में मिश्रित करके मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभः, नभस्य, इष, ऊर्ज, सहः, सहस्य, तपः, तपस्य को, ऋतुओं, ओषधियों, ओषधिपतियों, श्री, श्रीपति तथा विष्णु को आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं।"[1] इस कृत्य में अग्नि के पश्चिम दिशा में श्री की एवं पूर्वाभिमुख श्रीपति की अर्चना करके हवि समर्पित की जाती है। चैत्री के समापन पर अन्न की स्तुति की जाती है एवं पक्वान्न या चैत्र्य भोजन ब्राह्मणों को प्रदान करने के उपरांत सपिण्ड भोज्य–पदार्थ अन्य लोगों के साथ स्वयं भी प्रसाद के रूप में ग्रहण कर लिया जाता है।

सीतायज्ञ

सीतायज्ञ को सामान्य शब्दों में परिभाषित करते हुये कहा जा सकता है कि "जोते हुये खेत का यज्ञ" ही 'सीता यज्ञ' है। सामान्यतः इस यज्ञ का सम्पादन स्मार्त या औपासनाग्नि वाले व्यक्ति के यहाँ खेत के जोतने या हल चलाने के अवसर पर विधि–विधान से किया जाता है। इस यज्ञ को प्रारम्भ करने के लिये शुभ–मुहूर्त का निर्धारण करके यज्ञीय भोजन का निर्माण करते हैं, तब क्रमशः इन्द्र, मरूत्गण, पर्जन्य, अशनि एवं भग देवताओं को आहुतियाँ समर्पित करते

---

1. वैखानस गृह्यसूत्र–4/8

हैं। सीता, आशा, अरडा एवं अनधा को घृताहुति से सन्तुष्ट करते हैं। इस कृत्य का वर्णन गोभिल गृह्यसूत्र[1] में भी प्राप्त होता है।

पारस्कर गृह्यसूत्र ने "हल को निकालने एवं खेत जोतने के प्रयोग में लाने के अवसर पर सीतायज्ञ से सम्बद्ध विधि–विधान का वर्णन किया है"।[2]

इस प्रकार सीतायज्ञ का सम्पादन सुखद फसलोत्पत्ति के उद्देश्य से हल चलाने के साथ किया जाता है।

श्रवणाकर्म एवं सर्पबलि

इस कृत्य का आयोजन श्रावणमास की पूर्णमासी पर किया जाता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार इस कृत्य के अन्तर्गत एक नवीन घड़े के अन्दर भुने हुये जौ रखकर, उसको एक शिक्य (घड़ा रखने के लिये पतली छड़ी से निर्मित ढाँचा) पर बलि प्रदान करने के लिये चमस के साथ स्थापित कर दिया जाता है। भुने हुये जौ का घृत में मिश्रण कर लेते हैं। सूर्यास्त के अवसर पर स्थालीपाक अन्न को निर्मित करते है एवं मृतपात्र पर रोटी को पकाते हैं, अब 'ऋग्वेद के चार मंत्रों'[3] के साथ अन्न की आहुतियाँ समर्पित करते हैं। रोटी को घृत में इस प्रकार से भिगोते है कि उसका ऊपरी भाग परिलक्षित होना चाहिये। अब रोटी का ऋग्वेद के मंत्र के साथ हवन कर दिया जाता है एवं जौ को विधिपूर्वक अग्नि में समर्पित कर देते हैं। घृत–मिश्रण से रहित 'जौ' अन्य लोगों को दे देते हैं। घड़े के जौ को चमस में भर लेते हैं, घर के बाहर पूर्वाभिमुख पवित्र स्थान पर जल गिराते हैं एवं 'सर्पदेवजनेभ्यः स्वाहा' मंत्र के साथ सर्पो को भुना जौ देते हैं, अब उनकी अर्चना करके बलि समर्पित की जाती है।"[4] इस प्रकार सर्पप्रधान कृत्य होने के कारण यह कृत्य श्रवणाकर्म एवं सर्पबलि के नाम से प्रचलित है। सामान्यतः 'सर्पपूजा' सर्पदंश के भय से मुक्ति प्राप्त करने या रक्षा हेतु सम्पन्न की जाती है। वस्तुतः वर्षाऋतु में सर्पो का संकट प्रारम्भ हो जाता है, क्योंकि सर्पों के बिल में जल प्रविष्ट हो जाने से उन्हें अपना

1. गोभिल गृह्यसूत्र–4/4/27
2. पारस्कर गृह्यसूत्र–2/13
3. ऋग्वेद–1/189/1–4
4. आश्वलायन गृह्यसूत्र–2/1/1–15

जन–जीवन व्यतीत करने के निमित्त बाहर निकलना पड़ता है। इसी कारण साधारण गृहस्थ श्रावणमास में सर्पपूजा से सम्बद्ध कृत्य सम्पादित करते हैं। सर्पबलि मार्गशीर्ष की पूर्णमासी तक दी जाती है। वस्तुतः इन्हीं मासों में साधारण गृहस्थ भूमि पर शयन भी करते हैं। अद्यतन सर्पपूजा या नागपूजा को श्रावणमास के शुक्लपक्ष के पञ्चमी में 'नागपञ्चमी' के रूप में सम्पादित करते हैं।

नागबलि

नागबलि का वर्णन संस्कार कौस्तुभ में प्राप्त होता है।[1] नागबलि कृत्य उस समय पर सम्पादित करते हैं,जब पूर्णिमा या पंचमी या नवमी के दिवस पर आश्लेषा नक्षत्र विद्यमान रहता है। वस्तुतः आश्लेषा नक्षत्र का देवता सर्प है, इसीलिये इस नक्षत्र को प्रधानता देते हैं। यह कृत्य सर्पवध के पाप से विमुक्ति हेतु या सर्पक्रोध–शांति हेतु सम्पन्न किया जाता है। इस कृत्य में चावल, गेहूँ या सरसों के आटे से नाग या सर्प की आकृति का एक सर्प निर्मित करते हैं, अब उसका षोडशोपचार पूजन करके पायस की बलि समर्पित करते हैं। ओम् एवं तीनों व्याहृतियों के उच्चारण के साथ घृताहुति सर्प के मुख में समर्पित करते हैं एवं घृत का अवशिष्टांश उसके सम्पूर्ण शरीर पर समर्पित कर देते हैं। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार "कुछ पौराणिक मंत्रोच्चारण के साथ सर्पाकृति अग्नि में समर्पित कर देते हैं"।[2] सर्पबलि कृत्य के समापन के उपरांत दम्पति तीन दिन तक अपवित्र रहते है। त्रिदिवसीय अशौच के समाप्त होने पर पति–पत्नी आठ ब्राह्मणों को आमंत्रित करते हैं। समस्त ब्राह्मण "भस्म–सर्पाकृति" के स्थान पर सांकेतिक रूप से खड़े हो जाते हैं। अब दम्पति, इन ब्राह्मणों का विधि–विधान से षोडशोपचार पूजन करके भोजन एवं यथासम्भव दक्षिणा प्रदान करते हैं।

इन्द्रयज्ञ

इन्द्रयज्ञ नामक कृत्य भाद्रपक्ष की पूर्णमासी को सम्पन्न किया जाता है। इसका विशद वर्णन पारस्कर गृह्यसूत्र 2/15 में उपलब्ध है। इस कृत्य में इन्द्र के लिये पायस एवं पुरोडाश बनाकर, अग्नि के चारो दिशाओं में पुरोडाश रख

---

1. संस्कार कौस्तुभ– पृ0–122
2. तैत्तीरीय संहिता–4/2/8/3

दिया जाता है और दो आज्य भाग देकर इन्द्र को पायस प्रदान किया जाता है। इस कृत्य में इन्द्र, इन्द्राणी, अज, एकपाद, अहिर्बुध्न्य एवं प्रोष्ठपदाओं को आज्य की आहुतियाँ समर्पित करते हैं। इन्द्र को पायस एवं मरूतों को बलि प्रदान की जाती है। "मरूतों को अश्वत्थ के पत्ते पर बलि देते हैं, क्योंकि मरूत् अश्वत्थ वृक्ष पर रहते हैं"।[1] इसके उपरांत वाजसनेयी संहिता के मंत्रों का उच्चारण करते हैं और अन्त में ब्राह्मण को दक्षिणा के साथ भोजन कराया जाता है। आदिपर्व से यह ज्ञात होता है कि "उपरिचर वसु ने इस उत्सव का प्रारम्भ किया था। इन्द्र ने राजा को वानप्रस्थ ग्रहण करने से अवरूद्ध किया एवं चेदि राज्य का राजा बनने पर विवश कर दिया। राजा ने इन्द्र द्वारा प्रदत्त दण्ड के प्रति समादर व्यक्त करने के लिये उसे पृथिवी में स्थापित कर दिया। उसी परम्परा से प्रतिवर्ष राजा एवं अन्य सामान्य लोग भी पृथिवी पर बाँस का दण्ड स्थापित करते है एवं द्वितीय दिवस पर आभूषण एवं माला–पुष्पादि को भी बाँधते हैं।"[2] वस्तुतः इन्द्र के प्रति समादर व्यक्त करने के लिये ध्वज–पताका स्थापित करने की परम्परा वर्तमान में भी प्रचलित है।

इस प्रकार इन्द्रयज्ञ के माध्यम से साधारण गृहस्थ इन्द्रदेव को संतुष्ट करके अपने जीवन के विविध लक्ष्यों की सम्प्राप्ति करते हैं।

आश्वयुजी

आश्वयुजी नामक कृत्य की गणना गौतम[3] ने अपने चालीस संस्कारों में सात पाकयज्ञों के अन्तर्गत की है। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार "आश्विन् मास की पूर्णिमा पर आश्वयुजी कृत्य सम्पन्न किया जाता है। इस कृत्य के अन्तर्गत गृहस्थ अपने घर को अलंकृत करके स्नानोपरांत श्वेत–नवीन वस्त्र को धारण करता है। इसके उपरांत पक्वान्न को "पशुपतये शिवाय शंकराय पृषातकाय स्वाहा" मंत्रोच्चारण के साथ पशुपति देव को श्रद्धापूर्वक समर्पित

---

1. शतपथ ब्राह्मण–4/3/3/6
2. आदिपर्व–63/1–29
3. गौतम–8/19

करता है। तदोपरांत चावल एवं घृत का मिश्रण करके अंजलि से "ऊनं मे पूर्यतां पूर्ण मे मोपसदत् पृषातकाय स्वाहेति"[1] मंत्र के साथ आहुति प्रदान करते हैं। इस प्रकार आश्वयुजी कृत्य में पशुपति देव को पक्वान्न समर्पित करके साधारण गृहस्थ अपने अभिलाषाओं एवं आकांक्षाओं को साकार करते हैं।

आग्रयण

आग्रयण कृत्य में साधारण गृहस्थ नवोपजित फसलों को सर्वप्रथम देवों को समर्पित करते हैं। आग्रयण को मनु ने नवयज्ञ की संज्ञा दी है।[2] "आग्रयण कृत्य में नवीन उपज को सर्वप्रथम देवों को समर्पित किया जाता है"।[3] आश्वलायन के अनुसार "इसे त्रेता अग्नि में भी सम्पन्न किया जाता है तथा जिन्होंने तीन अग्नियाँ न प्रज्वलित की हो, वे शाला (औपासन) अग्नि में भी कर सकते हैं"।[4] इस कृत्य में चावल, जौ एवं श्यामाक अन्नों का प्रयोग करते हैं। वैखानस गृह्यसूत्र के अनुसार "आग्रयण कृत्य न करने पर साधारण गृहस्थ यदि नवीन फसल या नवान्न का प्रयोग करता है तो पादकृच्छ प्रायश्चित् की व्यवस्था की गयी है।[5]

इस प्रकार साधारण गृहस्थ आग्रयण कृत्य में नवोपजित फसल को देवों को समर्पित करके उनके प्रति समादर भाव प्रकट करते हैं।

आग्रहायणी

आग्रहायणी कृत्य भी गौतम[6] के चालीस संस्कारों के अन्तर्गत सात पाक–यज्ञों में सम्मिलित है। वस्तुतः यह कृत्य मार्गशीर्ष (अगहन) की पूर्णमासी में सम्पादित करने के कारण आग्रहायणी के नाम से प्रचलित है। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार इस कृत्य में घर को चिकनी मिट्टी एवं गोबर से लीपा–पोता जाता

1. आश्वलायन गृह्यसूत्र–2/2/1–3
2. मनु–4/27
3. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र–19/6
4. आश्वलायन गृह्यसूत्र–2/2/4
5. वैखानस गृह्यसूत्र–6/19
6. गौतम–8/19

है। भूमि को समतल करके सायंकाल पायस की आहुति दी जाती है। इसमें स्विष्टकृत अग्नि को आहुतियाँ नहीं दी जाती हैं। अग्नि के पश्चिम दिशा में घास को आच्छादित कर देते हैं, जिस पर साधारण गृहस्थ अपने सम्पूर्ण परिवार के साथ सिर को पूर्व दिशा में करके उत्तराभिमुख होकर ऋग्वेद के मंत्रोच्चारण के साथ बैठ जाता है। कृत्य के समापन पर उसी प्रकार मंत्रोच्चारण के साथ उठ जाते हैं। कृत्य के समापन पर ब्राह्मणों को भोजन कराकर दक्षिणा प्रदान किया जाता है"[1]। कतिपय सूत्रग्रन्थों में इस कृत्य को सर्पबलि ही स्वीकार किया जाता है। साधारण गृहस्थ आग्रहायणी कृत्य को भी सर्प से रक्षा के निमित्त सम्पादित करते हैं।

शूलगव या ईशान बलि

आश्वलायन के अनुसार यह कृत्य शरद् ऋतु या वसन्त ऋतु में आद्रा नक्षत्र पर सम्पादित किया जाता है।[2] इस कृत्य के व्यवस्था के विषय में विभिन्न प्रकार के विचार प्राप्त होते हैं। मानव गृह्यसूत्र के अनुसार "रूद्र को संतुष्ट करने हेतु शरद् ऋतु में शूलगव कृत्य किया जाता है। रात्रिकाल में ग्राम के उत्तर–पूर्व दिशा की ओर बैलों के मध्य मे एक यूप गाड़ दिया जाता है। स्विष्टकृत अग्नि के होम के पूर्व पत्तों के आठ द्रोणों मे रक्त को परिपूर्ण करके दिक्पालों को समर्पित किया जाता है एवं पत्तों को आठ पात्रों में अनुवाक् मंत्र के साथ मध्यवर्ती दिशाओं को दिया जाता है। कच्चा उपहार गाँव में नहीं लाया जाता है। पशु के अवशिष्ट भाग चर्म इत्यादि को पृथिवी में गाड़ देते हैं"।[3] वस्तुतः प्रारम्भ में शूलगव कृत्य शिव को बैल का मांस प्रदान करने से ही सम्बन्धित था। साधारण गृहस्थ इस कृत्य के माध्यम से शिव या रूद्र के प्रति समादर–भाव प्रकट करते हुये अपने अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि करते हैं।

---

1. पारस्कर गृह्यसूत्र–3/2 एवं गोभिल गृह्यसूत्र–3/9/1–23
2. आश्वलायन गृह्यसूत्र–4/9/2
3. मानव गृहसूत्र–2/5/1–6

वास्तु–प्रतिष्ठा

वास्तु–प्रतिष्ठा कृत्य नवीन गृह को वास्तु सिद्धान्त के अनुसार निर्मित करके उसमें प्रवेश करने से सम्बन्धित है। नवीन गृह के निर्माण के विषय विभिन्न सूत्रकारों ने वर्णन किया है। आश्वलायन के अनुसार "प्राथमिक क्रम में भूमि परीक्षण अनिवार्य है, स्थल क्षार रहित होना चाहिये, उसमें ओषधियाँ कुश, वीरण, तृण एवं घास परिलक्षित होना चाहिये। निर्माण के पूर्व कटीले पौधे तथा ऐसी जड़े जिनमें दुग्ध निकलता हो, उसे बहिर्गत् करना चाहिये एवं अपामार्ग तिल्वक आदि पौधे भी निकाल देना चाहिये। उस भूमि मे पानी चारो ओर से दाहिने ओर बहता हुआ पूर्व दिशा में निकलता हो, तो ऐसे स्थल को शुभ स्थल कहते हैं। उस स्थल में कहीं भी एक गज भर मिट्टी निकालनी चाहिये एवं तब उसमें भर देना चाहिये, जब भरने के उपरांत कुछ मिट्टी शेष रह जाये तो यह स्थल उत्तम, जब पूरी मिट्टी भर जाये तो मध्यम एवं मिट्टी से गड्ढा पूर्ण न हो तो वह निकृष्ट एवं अधम स्थल कहा जाता है एवं ऐसी भूमि का त्याग कर देना ही सर्वोत्तम है"[1]। "स्थल परीक्षण की एक अन्य विधि के अनुसार–स्थल के मध्य भाग का खनन् करके रात्रिकाल में उसे जल से परिपूर्ण कर देना चाहिये। प्रातःकाल यदि पानी गड्ढे में रहे तो उत्तम, भीगा रहे, तो मध्यम एवं सूखी स्थिति में हो तो निम्नतम श्रेणी की भूमि समझकर, उसका परित्याग कर देना उचित होगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को क्रमशः श्वेत, लाल एवं पीत स्थल का वरण करना चाहिये। भूमि का आकार वर्गाकार या चतुर्भुजाकार होना चाहिये। भूमि के स्वामी को शमी एवं उदम्बुर नामक वृक्ष की टहनियों से तीन बार प्रदक्षिणा करके दाहिने हाथ से उस पर जल छिड़ककर 'ऋग्वेद के शान्तातीय स्तोत्र'[2] का पाठ करना चाहिये। अनवरूद्ध तीन बार पाठ करे एवं ऋग्वेद के "आपो हि ष्ठा" मंत्र का उच्चारण भी महत्त्वपूर्ण होता है।[3] एक अन्य विचारधारा

---

1. आश्वलायन गृह्यसूत्र–2/7
2. ऋग्वेद–7/35/1–15
3. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी0 वी0 काणे, भाग–1, पृ0 445–46

के अनुसार "वास्तुयज्ञ पाँच बार सम्पन्न होना चाहिये, प्रथम नींव के समय, द्वितीय प्रथम स्तम्भ स्थापित करते समय, तृतीय प्रथम द्वार के साथ चौखट खडे करते समय, चतुर्थ गृह प्रवेश के समय, एवं पंचम वास्तुशांति के निमित्त करना चाहिये।"[1]

वर्ममान समय में गृहप्रवेश की परम्परा में मुहूर्त, तिथि इत्यादि विचार करके गृहप्रवेश का कार्यक्रम बनाया जाता है। "सामान्यतः पूजन के समय एक मण्डल बना लेते है, जिसमें 81 वर्ग बनाते है और उसमें आगमन के लिये 62 देवताओं को मंत्रोच्चारण के साथ आमंत्रित किया जाता है। देवताओ के अह्वाहन के उपरांत समिधा, तिल एवं आज्य की 28 आहुतियों के साथ 9 ग्रहों का होम किया जाता हैं। गृह को पूर्व दिशा से चारों ओर सूत्र में घेर देते हैं एवं उसके साथ ऋग्वेद के रक्षोध्न एवं पवमान् नामक सूक्तों का पाठ किया जाता है"[2]। वास्तु–प्रतिष्ठा के मुख्य कृत्य के उपरांत गृहस्वामी सपरिवार ब्राह्मणों को साथ में लेकर अपने शुभ वस्तुओं के साथ उल्लासपूर्ण वातावरण में प्रसन्नता पूर्वक ईश्वर का ध्यान करते हुये गृहप्रवेश करता है। अब पुण्याहवाचन कृत्य, ब्राह्मणभोज एवं सभी परिवार, मित्र तथा सहभागी भोज का आनन्द प्राप्त करते हैं। इस प्रकार साधारण गृहस्थ वास्तु–प्रतिष्ठा कृत्य में सुव्यवस्थित भूमि का चयन करके वास्तु–सिद्धान्त के अनुसार भवन का निर्माण करते हैं। गृहप्रवेश कृत्य में विधि पूर्वक देवपूजन या वास्तुपूजन करने के उपरांत गृहस्वामी सम्पूर्ण परिवार के साथ नवीन गृह में प्रवेश करता है। इस कृत्य के समापन के उपरांत ब्राह्मण भोज एवं उन्हें दक्षिणा प्रदान करने के उपरांत परिवार एवं स्वजन मिलकर भोजन एवं नवीन भवन का आनन्द प्राप्त करते हैं।

---

1. मत्स्यपुराण 256/10–11
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी० वी० काणे, भाग–1, पृ० 446

अप्रधान गृह्यकृत्यों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

'पार्वण–स्थालीपाक' नामक कृत्य में नवविवाहिता पत्नी विभिन्न भोज्य पदार्थों एवं पक्वान्न को निर्मित करती है, तब पति–पत्नी स्थालीपाक बना कर विधि–विधान से दर्श–पूर्णमास के देवताओं को समर्पित करते हैं। इस कृत्य से एक सुव्यवस्थित दाम्पत्य जीवन का प्रारम्भ होता है। इस कृत्य से पत्नी भोजनालय के कार्यभार को मानसिक रूप से वहन कर लेती है एवं पति–पत्नी का आपसी मानसिक–सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। देवों को पक्वान्न समर्पित करने से उनका आशीर्वाद तो प्राप्त होता ही है, प्रत्युत् नवदम्पति मानसिक–सुखानुभूति (Mental Satisfaction) प्राप्त करते हैं। यह उत्तम वैवाहिक जीवन का मार्ग प्रशस्त करता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी Mental Harmony (मानसिक सामञ्जस्य) एवं Mental Satisfaction (मानसिक सुखानुभूति) को स्वीकार करता है[1]। इन्हीं मानसिक प्रत्ययों के कारण पति–पत्नी का उत्तम मानसिक स्वास्थ्य निर्मित होता है। मानसिक स्वास्थ्य के विषय में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक क्रो एण्ड क्रो का कथन इस प्रकार है–"**Mental Hygiene is a science that deals with the human welfare and pervade all fields of human relationship.**"[2]

'चैत्री' नामक कृत्य में नवदम्पति घर को स्वच्छ करके, उसको अलंकृत करते हैं एवं स्वयं नवीन वस्त्र धारण करते हैं, अब पक्वान्न एवं घृतादि की आहुति अग्नि एवं अन्य देवों को प्रदान की जाती है। इस कृत्य के अन्त में ब्राह्मणों को पक्वान्न प्रदान करके स्वयं भी ग्रहण करते हैं। इस कृत्य को सम्पादित करने से साधारण गृहस्थ की मस्तिष्कीय शांति एवं सात्विक विचारों की अभिवृद्धि होती है, क्योंकि घर को अलंकृत करना एवं निर्मलता के साथ

---

1. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश–निर्मला शेरजंग।
2 Crow & Crow, Mental Hygiene-p-4.

नूतन वस्त्र को धारण करने से, व्यक्ति की सौन्दर्यवृत्ति प्रखर होती है एवं उसके अन्तः में सुविचारोत्पत्ति तथा सात्त्विक कल्पना का जन्म होता है। मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है, यदि सुव्यवस्थित विधि से जीवन को संचालित करे तो व्यक्ति के अन्दर सुविचार एवं सात्त्विक कल्पना का जन्म होता है। कल्पना के विषय में मनोविज्ञान का विचार इस प्रकार है–"ज्ञानेन्द्रियों के उत्तेजित हुये बिना ही किसी विचार सम्बन्धी अनुभव को पुनः स्थापित कर लेने की क्रिया को कल्पना कहते हैं।"[1]

'सीतायज्ञ' के अन्तर्गत खेत को जोतने या हल चलाने के समय शुभ मुहूर्त का विचार करके इन्द्र, मरूत्गण एवं अन्य सम्बद्ध देवताओं को घृताहुति प्रदान करते हैं। इस कृत्य के सम्पादन से गृहस्थों के अन्तः में उल्लास एवं संवेग की भावना प्रबल होती है, जिससे वे कार्य को तीव्र गति एवं तन्मयता से सम्पादित करके समुचित फल प्राप्त करते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान भी संवेग (Emotion) को व्यक्ति के कार्यक्षमता में अभिवृद्धि के निमित्त महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में स्वीकार करता है–**"Emotion: a complex feeling State accompanied by characteristic motor and glandular activities or a complex behaviour in which the visceral component predominates".**[2]

"संवेग व्यक्ति में तीव्रता उत्पन्न करने वाला एक मनोवैज्ञानिक उद्‌गम है"[3] इस प्रकार उपर्युक्त कृत्य हल इत्यादि प्रयोगकर्त्ताओं व कृषकों में ऊर्जा का संचार करके कृषि–कार्य को सफलता की ओर ले जाता है। 'श्रवणाकर्म एवं सर्पबलि' नामक कृत्य को सर्पदंश के भय (Fear) से गृहस्थ लोग सम्पादित करते हैं। वस्तुतः यह कृत्य भय के संवेग से अथवा भय (fear) नामक स्वाभाविक मूलप्रवृत्ति के कारण गृहस्थ सम्पन्न करते हैं। मनोविज्ञान भी स्वीकार

---

1. जे० एन० सुमन–सामान्य मनोविज्ञान–पृ सं० 205
2. English and English, Dictionary of Psychological & Psychoanalytical teims.
3. P.T. Young, Emotion in Man and Animal, 1943, p.60.

करता है कि भय (Fear)[1] की स्वाभाविक मूलप्रवृत्ति से मनुष्य अपने आत्मबल का कवच निर्मित करता है, इसी क्रम में मनुष्य सर्पबलि एवं नागबलि जैसे कृत्यों को सम्पन्न करके स्वयं एवं अपने परिवार के अन्य सदस्यों की सर्पदंश एवं उसके भय से रक्षा करता है।

'इन्द्रयज्ञ' में इन्द्र एवं इस कृत्य से सम्बद्ध अन्य देवों को पक्वान्न प्रदान करके यजमान देवो के प्रति समादर की भावना प्रकट करता है। इस कृत्य से यजमान का भौतिक एवं आत्मिक विकास सम्पन्न होता है। इस प्रकार इन्द्रयज्ञ के माध्यम से गृहस्थ देवों के साथ सानिध्य भाव का अनुभव करता है।

'आश्वयुजी' में यजमान अपने घर एवं स्वयं को स्वच्छ रख कर मानसिक सुखानुभूति (Mental Satisfaction) एवं आत्मविश्वास (Self confidence) का अनुभव करता है। इस कृत्य में "पशुपतये शिवाय शंकराय पृषातकाय स्वाहा" मंत्र से पशुपति देव को पक्वान्न की आहुति देकर मानसिक दृढ़ता एवं आध्यात्मिक वृत्ति में अभिवृद्धि का अनुभव करता है। 'आग्रहायणी' नामक कृत्य से व्यक्ति प्रायश्चित् कर्म एवं देवों के प्रति समादर–भाव की अभिव्यक्ति करके मस्तिष्कीय संतुलन को व्यवस्थित करता है। इस कृत्य के माध्यम से सामान्य गृहस्थ एक स्वस्थ एवं सुव्यवस्थित मानसिक जीवन की स्थापना करते हैं। अप्रधान गृह्यकृत्यों में विभिन्न स्थानों पर समानता भी प्राप्त होती है, अतएव व्यक्ति (यजमान) को पूर्व में सम्पादित किये गये यज्ञों की संवेदनाओं का प्रत्यक्षीकरण (Perception) भी होता है, इसे मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है। प्रत्यक्षीकरण के विषय में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक वुडवर्थ एवं मारक्विस का कथन इस प्रकार है–**"Perception is the process of getting to know of objects and objective facts by use of the senses."**[2]

---

1. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोष–निर्मला शेरजग
2. Woodworth and Marquish, Psychology, 1955 p-402

ईशान्बलि या शूलगव कृत्य को यजमान भय नामक मूलप्रवृत्ति के कारणवश सम्पन्न करता है।

गृह्यकर्मकाण्ड में प्रयुक्त अप्रधान–कृत्यों में वास्तुप्रतिष्ठा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसका प्रचलन वर्तमान समय में भी है। वास्तु–प्रतिष्ठा का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि व्यक्ति का घर या भवन व्यवस्थित स्थान पर रहे, जिससे उसका मानसिक संतुलन बना रहे, इसीलिये इस कृत्य में भूमि–चयन, नीव–पूजन एवं भवन का सुव्यवस्थित निर्माण आवश्यक है। गृहप्रवेश के समय विभिन्न प्रकार के याज्ञिक अनुष्ठान एवं विभिन्न देवों को आहुतियाँ प्रदान करने से यजमान आत्मसंतुष्टि (Mental satisfaction) का अनुभव करता है। गृहप्रवेश के अवसर पर सम्पूर्ण वातावरण के मंत्रोच्चारण से गूंजायमान होने के कारण यजमान के मस्तिष्क में अविस्मरणीय प्रभाव उत्पन्न होता है, जिससे यजमान अपने परिवार के साथ सुखद एवं संतुलित जीवन का आनन्द प्राप्त करता है। इस प्रकार अप्रधान गृह्यकृत्य मनोवैज्ञानिकता से परिपूर्ण हैं।

पंचम अध्याय
UNIVERSITY OF ALLAHABAD
QUOT RAMI TOT ARBORES
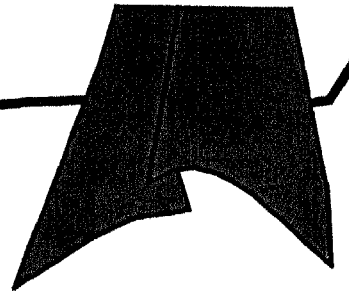
संस्कार

गृह्यकर्मकाण्डों के अन्तर्गत संस्कार (षोडश संस्कार) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृत्य के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। ये संस्कार मानव जीवन के भौतिक स्वरूप को तो सुसंगठित करते ही हैं् प्रत्युत् उसकी आध्यात्मिक सत्ता को भी प्रबल बना कर श्रेयमार्ग को प्रशस्त करते हैं। तन्त्रवार्तिका के अनुसार *"योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते"*[1] अर्थात् संस्कार वे क्रियायें एवं विधियॉ है, जो योग्यता प्रदान करती है। यह योग्यता भी दो प्रकार की है–पाप मुक्ति से उत्पन्न योग्यता एवं नवीन सद्‌गुणों से उत्पन्न योग्यता। लगभग सभी सूत्रकार एक सामान्य क्रम में 'षोडश संस्कार' को ही किसी न किसी रूप में स्वीकृति प्रदान करते हैं।षोडश संस्कार के अन्तर्गत क्रमशः गर्भाधान संस्कार, पुंसवन संस्कार, सीमन्तोन्नयन संस्कार, जातकर्म संस्कार, नामकरण संस्कार, निष्क्रमण संस्कार, अन्नप्राशन संस्कार, चूड़ाकर्म संस्कार, कर्णवेध संस्कार, विद्यारम्भ संस्कार, उपनयन संस्कार, वेदाध्ययन संस्कार, केशांत या गोदान संस्कार, समावर्तन संस्कार, विवाह संस्कार एवं अन्त्येष्टि संस्कार का वर्णन प्राप्त होता है।

मानव जीवन में सम्पन्न होने वाले संस्कार कृत्य मनुष्य के सर्वांगीण विकास से सम्बद्ध हैं। संस्कार कृत्य के बीजतत्त्व का विवरण संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में विभिन्न स्थानों पर प्राप्त होता है, परन्तु वेदांग साहित्य के अन्तर्गत गृह्यसूत्रों में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। षोडश संस्कार का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन आधुनिक मनोविज्ञान के मूलाधार तत्त्वों के आधार पर किया गया है। आधुनिक मनोविज्ञान के मूलाधार तत्त्व संक्षेप में इस प्रकार हैं–मन **(Mind)** संवेदना **(Sensation)**, संवेग **(Emotion)**, प्रेरणा **(Motivation)**, प्रत्यक्षीकरण **(Perception)**, स्मृति **(Remembering)**, विस्मृति**(forgetting)** चिंतन **(Thinking)**, कल्पना **(Imagination)** एवं मानसिक स्वास्थ्य **(Mental Hygiene)** आदि।

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास–पी0वी0 काणे भाग–1–पृ0–176

गर्भाधान संस्कार

गर्भाधान कृत्य का सर्वप्रथम वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है। ऋग्वेदस्थ इस मंत्र में गर्भाधान का लक्षण स्पष्टतः प्रतीत होता है–

अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।
अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान्।।[1]

अर्थात् मैं 'होता' के रूप में ओषधियों में गर्भाधान करता हूँ, मै प्राणियों को प्रजनन की क्षमता प्रदान करता हूँ। पृथिवी पर प्रजाजनों का उत्पादन करता हूँ, यज्ञादि क्रियाओं से सभी स्त्रियों को प्रजनन के योग्य बनाता हूँ।

इस प्रकार उपर्युक्त मंत्र में गर्भाधान कृत्य का स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है। इस कृत्य ने कालान्तर में सूत्रग्रन्थों में अधिक विस्तृत स्वरूप धारण कर लिया। सामान्यतः पति के द्वारा पत्नी के गर्भ में बीज (शुक्र) को प्रतिष्ठापित करने के लिये धार्मिक कृत्य के साथ सम्पन्न किया जाने वाला सहवास कार्य गर्भाधान कृत्य कहा जाता है। यह मानव जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्कार है, क्योंकि यह संस्कार अन्य समस्त संस्कारों का मूल उद्गम स्थान है।

सामान्यतः सभी गृह्यसूत्र गर्भाधान से ही संस्कारों का प्रारम्भ करते हैं। वस्तुतः मानव जीवन संस्कार के बिना अपूर्ण है, संस्कार से ही मनुष्य का मानवीकरण होता है। संस्कार की परम्परा में प्रजनन क्रिया भी महत्त्वपूर्ण है। गर्भाधान के सन्दर्भ में एक दृष्टांत इस प्रकार है।

"गर्भः संधार्यते येन कर्मणा तद् गर्भाधानमित्यनुगतार्थं कर्मनामधेयम्"।[2]

गर्भाधान के विषय में वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश का कथन इस प्रकार है–

निषिक्तो यत्प्रयोगेण गर्भः संधार्यते स्त्रिया।
तद् गर्भालम्भनं नाम कर्म प्रोक्तं मनीषिभिः।।[3]

अर्थात् "जिस कर्म में स्त्री, पुरूष के द्वारा प्रदत्त शुक्र को धारण करती है, उसे गर्भालम्भ या गर्भाधान कहते हैं"। वस्तुतः प्रजनन कार्य को सुव्यवस्थित बनाने

---

1. ऋग्वेद–10/183/3
2. पूर्वमीमांसा, अध्याय 1, पाद 4 अधि0 2, वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश
3. वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश–गर्भाधान प्रकरण

हेतु गर्भाधान संस्कार की व्यवस्था की गयी है। वैदिक काल से ही सन्तान प्राप्ति के लिये प्रार्थना आदि के विषय में पितृ–मातृक अभिव्यक्ति इस प्रकार दृष्टिगत् होती है–

प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम।[1]

पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति।[2]

शांखायन गृह्यसूत्र के अनुसार "विवाह के चतुर्थ रात्रि को पति अग्नि में पक्वान्न की आठ आहुतियाँ अग्नि, वायु, सूर्य, अर्यमा, वरूण, पूषा, प्रजापति एवं अग्नि (स्विष्टकृत) को देता है। आहुति ऋग्वेद के मन्त्रों के साथ देता है। इसके उपरांत अध्यण्डा की जड़ को काटकर, उसे कूटकर उसके जल को पत्नी की नासिका में ऋग्वेद के 10/85/21–22 मंत्र के साथ स्वाहा बोलकर डालता है।[3] अब वह पत्नी का स्पर्श करता हुआ संभोग प्रारम्भ करने के पूर्व इस मंत्र का उच्चारण करता है–

आते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम्।

आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमासस्यः।।[4]

उपर्युक्त मंत्र में पुरूष, स्त्री से संभोग करते समय कहता है– हे नारे! तरकश में बाण के स्वभावतः प्रवेश करने के समान तुम्हारे प्रजननांग में वीर्ययुक्त गर्भ प्राप्त हो। वह गर्भ, पुत्र रूप में दशम माह में प्रादुर्भूत हो।

अथर्ववेद में इस सन्दर्भ में एक अन्य दृष्टांत इस प्रकार है–

शमीमश्वत्थमारूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।

तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वामरामसि।।[5]

अर्थात् "जिस प्रकार अश्वत्थ शमी पर आरूढ़ होता है उसी प्रकार सन्तति का प्रसव किया जाता है। यह सन्तति की प्राप्ति है, उसी का स्त्री में आधान करते

---

1. ऋग्वेद–8/35/10
2. ऋग्वेद–8/89/9
3. शाखायन गृह्यसूत्र 1/18–19
4. अथर्ववेद – 3/23/2
5. अथर्ववेद 6/11/1

हैं।" वस्तुतः मनुष्य बीज से उत्पन्न होता है, उसी का स्त्री के गर्भ में आधान किया जाता है। गर्भाधान से ही संतति प्राप्ति होती है।

बौधायन गृह्यसूत्र के अनुसार "विवाह सम्पन्न हो जाने के उपरांत ऋतु स्नान से पत्नी के शुद्धीकरण हो जाने पर पति को प्रत्येक मास जाना होता है, किन्तु गर्भाधान के पूर्व उसे विभिन्न प्रकार के पुत्रों ब्राह्मण, क्षत्रिय (जिसने एक शाखा का अध्ययन किया हो), अनूचान (जिसने केवल वेदाङ्ग का अनुशीलन किया हो), ऋषिकल्प (कल्पों का अध्येता), भ्रूण (जिसने सूत्रों एवं प्रवचनों का अध्ययन किया हो), ऋषि (चारो वेदों का अध्येता), एवं देव (जो उपर्युक्त से श्रेष्ठ हो) की इच्छा के लिये व्रत का अनुष्ठान करना पडता है। व्रत समाप्ति में पक्वान्न की आहुति श्रद्धापूर्वक दी जाती है"[1]। समस्त प्रारम्भिक व्यवस्था होने के उपरांत सहवास के लिये पति-पत्नी को प्रस्तुत किया जाता है। पत्नी व्यवस्थित ढंग से अलंकृत हो जाती है, पति प्रकृति सृजन उपमा के साथ तथा गर्भाधान् में स्त्री के निमित्त देवों की सहायता हेतु स्तुतिमय मंत्रोच्चारण करता है।[2] इस कृत्य में अब "पुरूष, स्त्री के समागम के सन्दर्भ में उपमारूपक युक्त मंत्रोच्चारण तथा अपनी प्रजनन शक्ति का वर्णन करता हुआ नर-नारी के सहकार्य रूपकों से युक्त वैदिक मंत्रोच्चारण के साथ अपने शरीर को मलता है"।[3] अब पति-पत्नी के आलिंगन के उपरांत पूजा की स्तुति करते हुये एवं विकीर्ण बीज को इंगित करते हुये गर्भाधान होता है।[4] पति, पत्नी के हृदय का संस्पर्श करके उसके दक्षिण स्कन्ध पर झुकते हुये कहता है-" सुगुम्फित केशों वाली तुम एवं तुम्हारा हृदय जो स्वर्ग में निवास करता है, चन्द्रमा में निवास करता है, जिसे मै जानता हूँ, क्या वह मुझे जान सकता है ? क्या हम शत-शरद् का दृष्टिपात् करेंगे" ?[5] याज्ञवल्क्य एवं आपस्तम्ब का गर्भाधान के विषय में दृष्टांत इस प्राकर है-

ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात्स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्।

पारस्कर गृह्यसूत्र का गर्भाधान के विषय में इस प्रकार कथन है-

उभावप्यशुची स्यातां दम्पती शयनं गतौ।
शयनादुत्थिता नारी शुचिः स्यादशुचिः पुमान्।।[6]

---

1. बौधायन गृह्य सूत्र - 1/7/1-8
2. बौधायन गृह्यसूत्र-1/7/37-41
3. बौधायन गृह्यसूत्र-1/7/42
4. बौधायन गृह्यसूत्र-1-7-44
5. पारस्कर गृह्यसूत्र-1/12/9
6. शातातप, गदाधर द्वारा पारस्कर गह्यसूत्र-1-11 पर उद्धृत।

सामान्यतः ऋतुकाल के चतुर्थ रात्रि में पति–पत्नी गर्भाधान का संकल्प कर लेते हैं। गर्भाधान क्रिया के अग्रिम क्रम में सर्वप्रथम नवदम्पति देवों को पक्वान्न की आहुति समर्पित करके स्वयं भोज्य–पदार्थ ग्रहण करते हैं। अब पति–पत्नी पूर्णतया स्वच्छ एवं अलंकृत कक्ष में प्रवेश करते हैं। पूर्वाभिमुख बैठा हुआ पति, पत्नी की ओर दृष्टिपात् करते हुये इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

विष्णुर्योनिकल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते।।[1]

गर्भाधान के निमित्त पूर्वामिमुख बैठा हुआ पति अब इस मंत्र का उच्चारण करता है–

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भंधेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजा।।[2]

अब पति शुक्लयजुर्वेद के इस मंत्र का उच्चारण करते हुये गर्भाधान का प्रमुख कार्य प्रारम्भ करता है–

गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि।[3]

सहवास कार्य सम्पन्न होने के उपरांत पत्नी जब उठकर बैठ जाये तब पति, पत्नी के दक्षिण स्कन्ध पर अपना दक्षिण हाथ ले जाकर इस प्रकार यजुर्वेदीय मंत्रोच्चारण करता है–

रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्। गर्भो जरायुणावृतऽ उल्बं जहाति जन्मनाऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोमृतं मधु।।[4]

वस्तुतः गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के उपरांत ही गर्भाधान संस्कार को मान्यता प्रदान की जाती है। यह संस्कार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसका प्रभाव प्रादुर्भूत होने वाले शिशु पर पड़ता है। गृहस्थ जीवन का प्रमुख उद्देश्य संतानोत्पत्ति है, पुत्रोत्पत्ति से ही सामान्य गृहस्थ पितृऋण के प्रभाव से मुक्त होता है। इस प्रकार साधारण गृहस्थ पितृऋण से मुक्ति हेतु गर्भाधान संस्कार सम्पादित करते हैं।

---

1. ऋग्वेद–10/184/1
2. ऋग्वेद–10/184/2
3. शुक्लयजुर्वेद–1/27
4. शुक्लयजुर्वेद–19/76

गर्भाधान संस्कार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

षोडश संस्कार में गर्भाधान संस्कार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृत्य है, क्योंकि इस कृत्य के बिना किसी भी संस्कार का सम्पादन नही हो सकता है। गर्भाधान कृत्य का प्रमुख उद्दीपक संतानोत्पत्ति है, यह पुरूष के अन्तः प्रेरणा का संचार करके लक्ष्य प्राप्ति के लिये प्रेरित करता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी प्रेरणा (Motivation) को स्वीकार करता है–"**A motive is any particular internal factor or condition that to initiate and to sustain activity".**[1]

गर्भाधान कृत्य अत्यन्त पवित्र कर्म है, क्योंकि मनुष्य इस कृत्य में पितृऋण से मुक्ति प्राप्त करता है। इस कृत्य में कर्मकाण्डीय विधि एवं मंत्रोच्चारण नवदम्पति के मस्तिष्क में वासना भाव के स्थान पर, एक पवित्र कर्म के प्रति दायित्त्व भाव उत्पन्न करता है, जिससे स्त्री–पुरूष दोनों का अन्तःकरण विशुद्ध एवं एकाग्रचित्त हो जाता है, फलतः गर्भाधान कृत्य सफलतापूर्वक सम्पन्न होता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी कार्यसफलता में चित्त की एकाग्रता को इस प्रकार प्रधानता देता है–

"Interest is latent attention, attention is interest in action."[2]

गर्भाधान कृत्य के लिये पति–पत्नी ऋतुकाल के चतुर्थरात्री के उपरांत संकल्प लेते हैं, यह संकल्पभाव ही दम्पति में कार्य के प्रति समर्पण एवं एकाग्रता का भाव उत्पन्न करता है। वेद में संकल्प–शक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इसके बिना किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है। आधुनिक मनोविज्ञान भी संकल्प–शक्ति ('will power') को स्वीकार करता है।[3] पति,

1. J.P. Guilford, General Psychology, 1956, Page no. 91
2. शिक्षा मनोविज्ञान, डा० एस० एस० माथुर पृष्ठ 294
3. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश, निमला शेरजंग

पत्नी के गर्भ में शुक्र स्थापित करने के अवसर पर विविध प्रकार के याज्ञिक कृत्य एवं मंत्रोच्चारण को सम्पादित करता है। इससे स्त्री के अन्तः में शान्ति, शीतलता, धैर्य, भावुकता, एकाग्रता दायित्त्व-बोध एव आत्म-विश्वास का संचार होता है। ये सभी मानसिक भाव गर्भस्थ स्त्री के लिये अमृत के सदृश है, क्योंकि गर्भधारण करने के उपरांत स्त्री में उद्‌विग्नता, क्रोध एवं मानसिक–तनाव गर्भस्थ–शुक्र का क्षरण कर देते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान भी उपर्युक्त स्वाभाविक मूल–प्रवृत्तियों को एक संतुलित मानसिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक कारक स्वीकार करता है। मानसिक स्वास्थ्य के विषय में मनोविज्ञान का विचार इस प्रकार है– **"Mental hygiene is a science that deals with the human welfare and pervade all fields of human relationship."**[1] अस्तु गर्भाधान कृत्य में सम्पन्न किये जाने वाले धार्मिक कृत्य एवं मंत्रोच्चारण स्त्री एवं पुरूष दोनों की मानसिक स्थिति को प्रजनन क्रिया की समस्त अनुकूल परिस्थितियों में पहुँचाते हैं, जिससे गर्भाधान कृत्य सुनियोजित विधि से सम्पन्न होता है।

---

1. Crow & Crow, Mental Hygiene, p.4.

पुंसवन संस्कार

गर्भाधान या गर्भालम्भ संस्कार सम्पन्न होने के उपरांत गर्भस्थ शिशु को पुंसवन संस्कार के माध्यम से अभिषिक्त एवं विकसित किया जाता है।

पुंसवन विधि से सम्बद्ध अभीप्सित तथ्य ऋग्वेद की ऋचाओं में स्पष्टतः वर्णित है–

अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे।।[1]

उपर्युक्त मंत्र से पुत्र की अभिलाषा स्पष्टतः प्रतीत होती है। पुंसवन विधि का विस्तृत वर्णन प्रारम्भिक श्रोत में सीमित था, परन्तु सूत्रकाल में इस कृत्य ने व्यापक स्वरूप धारण कर लिया। पुंसवन–विधि पुत्र प्राप्ति से सम्बद्ध है, ऐसा वर्णन शौनक के द्वारा प्रस्तुत किया गया है–

"पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुंसवनमीरितम्"।[2]

अर्थात् पुंसवन का अभिप्राय उस विधि से है, जिससे पुरूष (पुत्र) का जन्म हो। पुंसवन के विषय में अथर्ववेद में पुत्र प्राप्ति के निमित्त इस प्रकार कथन किया गया है–

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम्।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान्।।[3]

उपर्युक्त ऋचा पुत्रजन्म का ही अनुमोदन करती है। प्राचीन काल में पुत्रोत्पत्ति करने वाली माता की प्रशंसा की जाती थी। वस्तुतः उस समय युद्ध में मृत्यु के कारण पुरूषों की संख्या में न्यूनता हो जाती थी। पुरूषों की न्यूनता को दूर करने के लिये 'पुंसवन संस्कार' के द्वारा–पुत्र प्राप्ति का सार्थक प्रयास किया जाता था।

---

1. ऋग्वेद–10/183/2
2. शौनक वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश–भाग–1 पृष्ठ–166
3. अथर्ववेद–3/23/3

आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार "गर्भस्थ स्त्री के तृतीय माह में पुष्य नक्षत्र वाले दिवस पर स्त्री को विगत् पुनर्वसु नक्षत्र में उपवास कर लेने के उपरांत अपने ही रंग (वर्ण) के सदृश बछड़े वाली गाय के दधि में दो कण शिम्बिक (सेम) एवं जौ का एक कण मिश्रित करके देना चाहिये। यह प्रश्न करने पर कि "तुम क्या पी रही हो"? स्त्री (गर्भिणी) प्रत्युत्तर देगी-'पुंसवनम्' अर्थात् पुत्र की उत्पत्ति। इस प्रकार पति दधि, दो सेम एवं एक जौ के दाने के साथ तीन बार विधि सम्पादित करता है"।[1] गृह्यसूत्रकाल में 'पुंसवन संस्कार' गर्भाधान के तृतीय या चतुर्थ माह के उपरांत सम्पन्न किया जाता था, जब चन्द्र किसी पुरूष नक्षत्र, विशेष रूप से पुष्य में संक्रमण कर जाता था।[2] गर्भिणी स्त्री उसी दिन उपवास करती थी। अब स्नानोपरांत नवीन वस्त्र धारण करके रात्रिकाल में वटवृक्ष की छाल को कूटने के उपरांत उसका रस निकालकर स्त्री की नासिका के दक्षिण-रन्ध्र में 'हिरण्यगर्भ' से प्रारम्भ होने वाली ऋचाओं (मंत्रों) के उच्चारण के साथ छोड़ दिया जाता था।[3] इस कृत्य में शौर्यवान एवं बलवान पुत्र की कामना हेतु पिता एक जलपात्र, स्त्री के अङ्क (गोद) में रख देता है, एवं पत्नी के उदर पर स्पर्श करता हुआ शुक्लयजुर्वेद के मंत्र का इस प्रकार उच्चारण करता है-

ॐ सुपर्णोऽसि गुरूत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ।

स्तोमऽआत्मा छनदा७स्यङ्गानि यजू७षि नाम। साम ते तनूर्वामदेव्यं

यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः। सुपर्णोऽसि गुरूत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत।।[4]

सामान्यतः पत्नी के अङ्क में जल से परिपूर्ण पात्र, उसके गर्भ के समृद्धि एवं परिपूर्णता का प्रतीक है। इससे श्रेष्ठ, सर्वगुणसम्पन्न एवं बलवान सन्तान को जन्म देने की मनोवृत्ति उत्पन्न की जाती है। इसके उपरांत पत्नी, देवता तथा अन्य ब्राह्मणों को पायस का भोज्य-पदार्थ प्रदान किया जाता है, जिससे वे पुत्र के उत्तम भविष्य की कामना करें।

1. आश्वलायन गृह्यसूत्र-1/13/2-7
2 पारस्कर गृह्यसूत्र - 14/2
3. पारस्कर गृह्यसूत्र-1/14/3
4. शुक्लयजुर्वेद-12/4

पुंसवन विधि का चिकित्सकीय प्रभाव

सामान्यतः पुंसवन संस्कार ऐसे समय पर सम्पन्न करते हैं जबकि चन्द्रमा किस पुरूष नक्षत्र पर आ जाता है, यह काल पुत्रोत्पत्ति के लिये महत्त्वपूर्ण होता है। गर्भस्थ स्त्री के दक्षिणी नासिका–रन्ध्र में 'वटवृक्ष का रस' गर्भपात से रक्षा करने हेतु एवं पुत्रोत्पत्ति के निमित्त प्रयुक्त किया जाता है।

सुश्रुत के अनुसार "वटवृक्ष में ऐसे तत्त्व है, जिनमें गर्भकाल में आने वाले समस्त कष्ट–तिल्ली का आधिक्य एवं दाह आदि के निवारण की क्षमता है।"[1]

सुश्रुत का एक अन्य मन्तव्य इस प्रकार है–

लब्धगर्भायाश्वचैतेष्वह। सुलक्ष्मणा–वटशुङ्ग–सहदेवी–विश्वदेवानामन्यतमं क्षीरेणाभिघुटय त्रींश्चतुरो वा बिन्दून् दद्याद्दक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै न च तन्निष्ठीवेत्।[2]

अर्थात् पुत्रप्राप्ति की अभिलाषा रखने वाले दम्पति वटशुङ्ग, सहदेवी तथा विश्वेदेवी, इनमें से विशिष्ट ओषधि को दुग्ध में मिश्रित करके, उसके रस की चार बूँदों को गर्भिणी के नासिका में डालना चाहिये। इस विषय का अवश्य ध्यान दे कि स्त्री (गर्भिणी) के नासिका से ओषधि बाहर न निकले।

वस्तुतः पुंसवन विधि में आयुर्वेदिक ओषधियों का प्रयोग, इस कृत्य के चिकित्सकीय प्रकृति को प्रकट करता है। इस कृत्य में गर्भिणी के अङ्क (गोद) में जल पात्र रखने से उसके अन्तःकरण में स्वस्थ एवं यशस्वी पुत्र को जन्म देने का आत्मविश्वास उत्पन्न होता है। शुक्लयजुर्वेदीय 'सुपर्णोऽसि' मंत्र के माध्यम से स्वस्थ एवं सुन्दर शिशु की कामना की जाती है।

कतिपय स्थानों पर अनवलोभन या गर्भरक्षण का वृत्तान्त भी आता है, परन्तु ये सभी वृत्तान्त किसी न किसी रूप में पुंसवन विधि से ही सम्बद्ध हैं।

---

1. सुश्रुत, सूत्रस्थान, अध्याय–38
2. सुश्रुत, शरीरस्थान, अध्याय–2

पुंसवन विधि का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

'पुंसवन' विधि के माध्यम से गर्भस्थ स्त्री के गर्भ के विकास मार्ग में उत्पन्न होने वाले सम्भावित अवरोधों का निराकरण करते हैं एवं पुत्र संतान प्राप्त किया जाता है।

इस विधि में अभीष्ट लक्ष्य गर्भ का विकास एवं पुत्र प्राप्ति दोनो ही है। पुंसवन विधि के समस्त कर्मकाण्डीय कृत्य के माध्यम से गर्भस्थ स्त्री में उपर्युक्त दोनो उद्दीपकों के प्रति एकाग्रता एवं रूचि उत्पन्न करते हैं। फलतः गर्भिणी के अन्तः में लक्ष्य प्राप्ति के निमित्त तीव्र प्रेरणा (Motivation) का संचार होता है, जिससे गर्भिणी में आत्मविश्वास (Self confidence) एवं अनुकूल मनोवृत्ति जागृत होती है, अर्थात् इस कृत्य के द्वारा गर्भिणी के अन्तःकरण में भय, हिंसा, क्रोध, जुगुप्सा एवं विपरीत भाव समाप्त हो जाते हैं। वातावरण के अनुकूल होने के कारण गर्भ के विकास मार्ग में आने वाले समस्त प्रकार के अवरोध समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गर्भिणी के स्वस्थ एवं संतुलित मानसिक स्थिति से ही गर्भस्थ शिशु का विकास एवं उन्नयन सम्भव हो सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी मानसिक स्वास्थ्य को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारक स्वीकार करता है। मानसिक स्वास्थ्य के विषय में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक क्रो एण्ड क्रो का कथन इस प्रकार है–**"Mental Hygiene is a science that deals with the human welfare and pervade all fields of human relationship."**[1]

पुंसवन विधि में प्रयुक्त होने वाले कर्मकाण्डीय कृत्य से स्त्री के मन, शरीर तथा सामाजिक परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित होता है। इस कृत्य में गर्भस्थ स्त्री के अङ्क (गोद) में जल का पात्र स्थापित करने से उसके मन में

---

1. Crow & Crow. Mental Hygiene-P-4

श्रेष्ठ, सर्वगुणसम्पन्न एवं बलवान पुत्रोत्पत्ति की मनोवृत्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार सामंजस्यपूर्ण मानसिक स्वास्थ्य से ही अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। इस सन्दर्भ में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक हेडफिल्ड का कथन इस प्रकार है–

"Mental Hygiene is" concerned with the maintenance of mental health and prevention of mental disorders."[1]

पुंसवन विधि में पुत्र प्राप्ति के लिये सुश्रुत ने 'शरीर–स्थान' अध्याय–2 में गर्भिणी के नासिका में विभिन्न प्रकार की ओषधियों की बूँद डालने के विषय में विचार प्रकट किया है। पुंसवन विधि में पुत्ररत्न के लिये प्रयुक्त होने वाली ओषधियाँ तो पुंसवन विधि की वैज्ञानिकता को प्रदर्शित करती है। इस विधि के मनोवैज्ञानिकता के सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि पुंसवन विधि में प्रयुक्त होने वाली ओषधियाँ, गर्भिणी के अङ्क में रखा गया जल–पात्र एवं अन्य विधियाँ गर्भिणी स्त्री में पुत्ररत्न प्राप्ति की प्रबल मानसिकता (Strong will power) एवं अनुकूल वातावरण (conditional environment) उत्पन्न करती है। अनुकूल वातावरण के सन्दर्भ में मनोविज्ञान का विचार अनुकरणीय है–''इच्छित वातावरण के द्वारा हम व्यक्तियों के तनावों को कम कर सकते हैं और उन्हें विकास के पथ पर अग्रसर किया जा सकता है, यह समायोजन तभी प्राप्त हो सकता है जबकि व्यक्ति उत्तम वातावरण में रहे''।[2]

---

1. Headfield-Mental health & Psychoneurosis. (शिक्षा मनोविज्ञान–डा० एस० एस० माथुर पृ० 375)
2. शिक्षा मनोविज्ञान–डा० एस० एस० माथुर–पृष्ठ–397

सीमन्तोन्नयन संस्कार

शिशु के जन्म के पूर्व का एवं गर्भ विषयक तृतीय संस्कार 'सीमन्तोन्नयन' संस्कार के रूप में प्रचलित है। इस कृत्य में पति, गर्भिणी पत्नी के केशों (सीमन्त) को ऊपर उठाकर सँवारता है।

सीमन्तोन्नयन संस्कार का स्पष्ट निदर्शन ऋग्वेद के मंत्रों से प्राप्त होता है। ऋग्वेद में गर्भ–संरक्षण के सन्दर्भ में ऐसा वर्णन किया गया है–

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजा।।[1]

यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम्।
जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि।।[2]

यस्त ऊरू विहरत्यन्तरा दम्पती शये।
योनिं यो अन्तरारेळिह तमितो नाशयामसि।।[3]

उपर्युक्त ऋग्वैदिक मंत्र गर्भिणी स्त्री के गर्भ–संरक्षण एवं गर्भ को विभिन्न प्रकार की रूग्णता तथा पैशाचिक शक्तियों के प्रकोप से रक्षा के निमित्त प्रयुक्त किये गये हैं। कालान्तर में वैदिक परम्परा से सूत्रग्रन्थों में 'सीमन्तोन्नयन' संस्कार अधिक व्यवस्थित एवं व्यापक हो गया।

'सीमन्तोन्नयन' के विषय में वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश का कथन इस प्रकार है–"सीमन्त उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत् सीमन्तोन्नयनमिति कर्मनामधेयम्।"[4]

---

1. ऋग्वेद–10/184/2
2. ऋग्वेद–10/162/3
3. ऋग्वेद–10/162/4
4. वीर मित्रोदय संस्कार प्रकाश–भाग–1–पृष्ठ–172

'सीमन्तोन्नयन' संस्कार को सम्पादित करने के पीछे मुख्य ध्येय गर्भिणी स्त्री में आत्मविश्वास एवं जीवन्तता की अनुभूति उत्पन्न करना है। सामान्यतः यह मन्तव्य प्रचलित है कि गर्भावस्था में स्त्री को कष्ट प्रदान करने वाली एवं गर्भपात करा देने वाली दुष्ट शक्तियाँ ग्रस्त कर सकती है, अतः गर्भिणी के रक्षार्थ इस कृत्य का आविर्भाव हुआ है। आश्वलायन स्मृति में भी ऐसा ही कथन किया गया है–

पत्न्याः प्रथमज गर्भमत्तुकामाः कामाः सुदुर्भगाः।
आयान्ति काश्चिद्राक्षस्यो रूधिराशनतत्पराः।।
तासां निरसनार्थाय श्रियमावाहयेत् पतिः।
सीमन्तकरणी लक्ष्मीस्तामावहति मन्त्रतः।।[1]

अर्थात् रूधिराशन् में तत्पर कुछ दुष्ट राक्षसियॉ, पत्नी के प्रथम गर्भ भक्षण के लिये आती है। पति का यहाँ पर कर्त्तव्य है कि वह इसे निराकृत करने के लिये 'श्री' का आवाहन करें, क्योंकि उसके आवाहन से राक्षसियॉ, गर्भिणी को अपने कुप्रभाव से मुक्त कर देती हैं। ये अलक्ष्य दुष्ट एवं क्रूर मांस भक्षण करने वाली राक्षसियाँ प्रथम गर्भ के समय ही स्त्री पर अपना अधिकार जमा लेती हैं तथा उसे कष्ट पहुँचाती हैं, अतः उनके निवारण हेतु 'सीमन्तोन्नयन' संस्कार की व्यवस्था की गयी है। इस कृत्य को आयोजित करने का मुख्य योगदान मनोविज्ञान की विचारधारा को भी कहा जा सकता है, क्योंकि सुश्रुत का मनोवैज्ञानिक मन्तव्य इस प्रकार है–

"पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति, षष्ठे बुद्धिः।"[2]

सीमन्तोन्नयन का अर्थ 'सौभाग्य सम्पन्न होना' भी है। इस कृत्य के माध्यम से गर्भिणी के चित्त में आत्मविश्वास, संतोष, सन्तान के प्रति स्नेह, तथा कर्त्तव्य–निष्ठा की भावना उत्पन्न करते हैं। 'सीमन्तोन्नय' संस्कार पुरूष नक्षत्र

---

1. आश्वलायनाचार्य, वीरमित्रोदय सस्कार प्रकाश–भाग–1–पृष्ठ–172
2. सुश्रुत, शरीर स्थान, अध्याय–33

वाले दिवस पर ही सम्पन्न किया जाता है, गर्भिणी उस दिन उपवास रखती है। इस कृत्य का विधि–विधान मातृपूजा, नान्दी–श्राद्ध तथा प्रजापत्य आहुति[1] आदि शुभ कृत्यों के साथ प्रारम्भ होता है। इस कृत्य में अब ''गर्भस्थ स्त्री अग्नि के पश्चिम दिशा में अत्यन्त सुकोमल आसन पर बैठती है, तब उसका पति उदम्बुर वृक्ष के समसंख्यक फलों के गुच्छों, दर्भ अथवा कुश के तीन गुच्छों, तीन श्वेत चिह्न वाली साही के कॉटे, वीरव्रत काष्ठ की यष्टि तथा पूर्ण तकुवे के साथ 'भूर्भुवः स्वः' आदि मन्त्र या तीनों महाव्याहृतियों का उच्चारण करता हुआ गर्भिणी स्त्री के केशों को ऊपर उठाकर सँवारता (सजाता) है''।[2] तीनों महाव्याहृतियों का उच्चारण क्रमशः इस प्रकार है–

''ऊँ भूः स्वाहा। ऊँ भुवः स्वाहा। ऊँ स्वः स्वाहा''।

बौधायन इस कृत्य से सम्बद्ध दो अन्य मंत्रों का भी उल्लेख करते हैं।[3] सीमन्त (केश) को सँवारने के उपरांत पति तोबटे सूत्रों के धागे से उदम्बुर वृक्ष की एक शाखा लेकर, गर्भिणी पत्नी के ग्रीवा के चारो ओर अनुबद्ध करते हुये इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

''अयमूर्ज्जस्वितो वृक्ष ऊर्ज्जेवफलिनी भव''।[4]

अर्थात् ''यह वृक्ष ऊर्जस्वी है, तू भी इस वृक्ष के सदृश फलवती हो''। वस्तुतः यह कृत्य गर्भिणी के उर्वरता एवं उत्तम फलवत्ता का प्रतीक है। इस कृत्य के अग्रिम क्रम में पति, पत्नी से अक्षत, तिल तथा घृत की ओर दृष्टिपात् करने एवं सन्तति, पशु, सौभाग्य एवं अपने दीर्घायुष्य की कामना के लिये कहता है''।[5] कुछ धर्मशास्त्रियों की विचारधारा के अनुसार गर्भिणी स्त्री के सन्दर्भ में इस प्रकार का कथन प्राप्त होता है–

''वीरसूर्जीवपत्नीति ब्राह्मण्यो मङ्गल्यानि वाग्भिरूपासीरन् सूर्जीवपत्नीति।''[6]

''अर्थात् गर्भिणी स्त्री के समीप बैठी हुयी ब्राह्मण पत्नियाँ इस प्रकार मांगलिक कथन करती है–''तू वीर पुत्रों की माता हो, तू जीव–पुत्रा हो, आदि।'' अब

---

1. पारस्कर गृह्यपद्धति।
2. पारस्कर गृह्यसूत्र–1–15–4
3. बौधायन गृह्यसूत्र–1/10/7–8
4. पारस्कर गृह्यसूत्र–1–15–6
5. गोभिल गृह्यसूत्र–2/7/10–12
6. गोभिल गृह्यसूत्र एवं परास्कर गृह्यसूत्र

गर्भिणी का पति दो वंशी–वादन करने वालो से कहता है–ओ राजन् ! गान करो, क्या इससे भी अधिक कोई वीर्यवान कहीं पर है ?[1] इस स्थिति में गान के लिये इस प्रकार मंत्रोच्चारण किया जाता है–

ऊँ सोमएवनीराजेमासानुषीः प्रजाः।
अविमुक्तचक्राऽआसीरंस्तीरे तुभ्यम् (असौ)।।[2]

अर्थात्"एक सोम ही हमारा राजा है। ओ नदि! तेरी सीमा अविच्छिन्न है। ये मनुष्य जन तेरे तट पर निवास करें।"

उपर्युक्त मंत्र का विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में आर्य वस्तुतः युद्ध प्रधानवर्ग के थें, उनमें साम्राज्य विस्तार एवं विजय के प्रति तीव्र उत्कण्ठा होती थी, इसीलिये वे शौर्यवान पुत्र–प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते थें।

इस कृत्य के अन्तिम चरण में साधारण गृहस्थ, ब्राह्मणों को भोजन कराते हैं एवं पुष्प–माला, चन्दन, ताम्बूल तथा दक्षिणादि देकर उनसे आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। रात्रिकाल में आकाश में तारों के आविर्भूत होने तक गर्भिणी स्त्री मौनधारण रखती है। अब वह गाय के एक बछड़े का संस्पर्श करती है, यह पुत्र–संतति का ही संकेत है। अब तीनो महाव्याहृतियों–(भूर्भवः स्वः) के मंत्रोच्चारण के साथ व्रत को समाप्त कर देती है।[3]

वस्तुतः स्त्री को अमंगलकारी शक्तियों से स्वयं की रक्षा करनी चाहिये। उसे शारीरिक श्रम नहीं करना चाहिये तथा मानसिक रूप से संतुष्ट एवं शारीरिक रूप से भी स्वस्थ रहना चाहिये।

गर्भिणी के पति के कर्त्तव्य के विषय में याज्ञवल्क्य स्मृति में इस प्रकार वर्णन प्राप्त होता है–

दौह्रदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात्।
वैरूप्यं निधनं वाऽपि तस्मात् कार्यं प्रियं स्त्रियः।।[4]

---

1. पारस्कर गृह्यसूत्र 1/15/7
2. पारस्कर गृह्यसूत्र–1/15/7
3. गोभिल गृह्यसूत्र–2/7
4. याज्ञवल्क्य स्मृति–3/89

अर्थात् गर्भिणी की कामनाओं की पूर्ति न होने पर उसके गर्भ में व्यवधान उत्पन्न हो सकता है, उसमें वैरूप्य आ जाने से वह गिर सकता है, अतः पति का कर्तव्य है कि अपने पत्नी की न्यूनतम एवं सामान्य अभिलाषाओं की पूर्ति अवश्य करें। सुश्रुत के कथनानुसार "गर्भस्थ स्त्री को मैथुन, अतिश्रम, दिवा–स्वप्न, रात्रि–जागरण, वाहन पर आरोहढ़, भय, मुर्गे की तरह बैठना, रेचन, रक्त बाहर निकालने तथा मल–मूत्र के असामयिक स्थगन आदि का वर्जन करना चाहिये"।[1]

सामान्यतः गर्भिणी के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य में पूर्णतः सामंजस्य होना चाहिये। "वशिष्ठ के मतानुसार गर्भाधान के आठ़वें माह में शिशु की रक्षा हेतु विष्णुबलि का प्रावधान भी किया जाता है"[2]।

पारस्करगृह्यसूत्र 'सोष्यन्ती संस्कार' का भी वर्णन करता है।[3] इस संस्कार का सामान्य अर्थ है– एक ऐसी स्त्री के लिये संस्कार ,जिसे अब शिशु का ज्ञान होने वाला है।

1. सुश्रुत–शरीरस्थान–अध्याय–11
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग–1–पी० वी० काणे–पृ०–190
3. पारस्करगह्यसूत्र–1/16

सीमन्तोन्नयन संस्कार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

सीमन्तोन्नयन का शाब्दिक अर्थ 'गर्भिणी स्त्री के केशों को ऊपर उठाकर सुसज्जित करना' है। शिशु जब स्त्री के गर्भ में पल्लवित होता रहता है, तो उस समय गर्भिणी में आत्मविश्वास तथा जीवन्तता उत्पन्न करना अत्यन्त आवश्यक होता है। सीमन्तोन्नयन कृत्य के सम्पादन से यह कार्य सरलता से सम्पन्न होता है। गर्भिणी की संतुलित मानसिक स्थिति अर्थात् उत्तम मानसिक स्वास्थ्य से गर्भ में शिशु का समुचित विकास होता है। मानसिक स्वास्थ्य के सन्दर्भ में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक 'हेडफिल्ड' का कथन इस प्रकार है–

"In General terms we may say that mental health is the harmonious functioning the whole personality."[1]

इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट होता है कि मानसिक स्वास्थ्य व्यक्ति के सम्पूर्ण शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, एवं अन्य गतिविधियों को प्रभावित करता है। अतः गर्भिणी स्त्री को मानसिक रूप से स्वस्थ होना आवश्यक है। मानसिक पक्ष के विषय में सुश्रुत का कथन इस प्रकार है–

''पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धितरं भवति, षष्ठे बुद्धि''.[2]

अर्थात् गर्भिणी के पंचम–षष्ठम माह में शिशु का मस्तिष्कीय उन्नयन शनैः–शनैः प्रारम्भ होने लगता है, इसीलिये सीमन्तोन्नयन संस्कार अत्यावश्यक है। इस कृत्य से स्त्री के चित्त में आत्मविश्वास, संतोष (satisfaction) आगामी संतान के प्रति स्नेह (Affection) एवं दायित्त्व की भावना (Feeling of Responsibility) उत्पन्न होती है। सीमन्तोन्नयन संस्कार में सम्पन्न होने वाले कृत्य तथा मंत्रों के सस्वर उच्चारण से गर्भिणी की मानसिक शक्ति एवं आत्मविश्वास में प्रबलता

1. शिक्षा मनोविज्ञान डा० एस० एस० माथुर–पृ० 375
2 सुश्रुत–शरीर स्थान–अध्याय–33

उत्पन्न होती है। इस कृत्य के विधि–विधान में ब्राह्मणों की भार्यायें गर्भिणी स्त्री के समक्ष इस मंत्र का उच्चारण करती हैं–

वीरसूर्जीव पत्नीति ब्राह्मण्यो मङ्गल्यानि वाग्भिरूपासीरन् सूर्जीवपत्नीति।

इस मंत्र के उच्चारण से गर्भिणी का मनोबल सशक्त करके उत्तम शिशु को जन्म देने के लिये प्रेरित किया जाता है। वस्तुतः मंत्र–शक्ति से गर्भिणी में श्रेष्ठ शिशु को जन्म देने की तीव्र प्रेरणा जागृत की जाती है। प्रेरणा–शक्ति कार्य क्षमता के प्रवर्द्धन का एक महत्त्वपूर्ण कारक है।

प्रेरणा (Motivation) के विषय में मनोविज्ञान का दृष्टिकोण भी इस प्रकार है–

"Motivation is broadly viewed, It is the problem of determining the for as which impel or incite an living organism to action."[1]

इसप्रकार सीमन्तोन्नयन संस्कार का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि इस कृत्य में सम्पन्न होने वाले समस्त प्रकार के कर्मकाण्डीय कृत्य से गर्भिणी के निमित्त अनुकूल पर्यावरण, पति का गर्भिणी के प्रति स्नेह एवं मंत्र–शक्ति से गर्भिणी में तीव्र प्रेरणा–शक्ति का संचार किया जाता है। फलतः गर्भिणी स्त्री, उत्तम एवं तेजस्वी शिशु को प्रसूत करने के लिये पूर्णतः अनुकूल मानसिक स्थिति में पहुँच जाती है। वस्तुतः सीमन्तोन्नयन संस्कार का सम्पूर्ण विधि–विधान एक मनोवैज्ञानिक सत्य का रहस्योद्घाटन करता है।

---

1. B.L.W. Psychology-Page no. 112

जातकर्म संस्कार

षोडश संस्कार–पद्धति में गर्भाधान के उपरांत यह चतुर्थ संस्कार है। जातकर्म संस्कार का सामान्य अभिप्राय माता के गर्भ में रहने से शिशु की अशुद्धि समाप्त करना है। जातकर्म संस्कार के विषय में सांकेतिक वर्णन ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है–

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः।।[1]

अर्थात् हे देवी सरस्वती ! जो आपका सुखदायक वरण करने योग्य, पुष्टिकारक, ऐश्वर्य प्रदाता, कल्याणकारी विभूतियों को देने वाला स्तन (स्वरूप) है, उसे जगत् के पोषण के लिये प्रकट करें।

गृह्यसूत्रों के अन्तर्गत 'जातकर्म संस्कार विधि' में उपर्युक्त ऋग्वैदिक मंत्रोच्चारण के साथ शिशु को माता का स्तन दुग्धपान के लिये दिया जाता है। इस प्रकार सूत्रग्रन्थों में वर्णित जातकर्म संस्कार का मूलश्रोत वैदिक संहितायें हैं। गर्भिणी के प्रसव काल में शिशु के अपवित्रता को समाप्त करने के लिये जातकर्म की विभिन्न विधियों की व्यवस्था की गयी है।

जातकर्म संस्कार के विषय में 'वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश' का विचार इस प्रकार है –

प्राङ् नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते।
मन्त्रतः प्राशनञ्चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्।।[2]

अर्थात् जातकर्म संस्कार नाभिबंधन के पूर्व सम्पन्न होता था। कालान्तर में शिशु के जन्म से उत्पन्न अशौच (अपवित्रता) को दूर करने के लिये यह संस्कार सम्पादित किया जाता था। "यदि मृत्यु के कारण होने वाली अपवित्र स्थिति में शिशु का जन्म होता था, तो अपवित्रता की अवधि जब तक समाप्त न हो जाये, उस समय तक जातकर्म स्थगित कर देते थें," ऐसा दृष्टांत है–

मृताशौचस्य मध्ये तु पुत्रजन्म यदा भवेत्
अशौचापगमे कार्यं जातकर्म यथाविधि।।[3]

---

1. ऋग्वेद–1/164/49
2. वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश–भाग–1 पृष्ठ–187
3. स्मृति संग्रह, गदाधर द्वारा पारस्कर गृह्यसूत्र में उद्धृत

बृहदारण्यकोपनिषद् में जातकर्म का विस्तृत वर्णन इस प्रकार किया गया है–"पुत्रोत्पत्ति के उपरांत अग्नि प्रज्वलित की जाती है। शिशु को किसी के अंङ्क में रखकर, एक कांस्य पात्र में दधि एवं घृत मिश्रित करके, ऐसा कथन किया जाता है– मै एक सहस्र संतानों को समृद्धि के साथ पाल सकूँ, संतान पशु–वृद्धि में कोई अवरोध न हो, स्वाहा, मै आपको अपने प्राण दे रहा हूँ, जो कुछ मैने इस कर्म में कम या अधिक किया हो, उसे अग्नि देवता, जिन्हें स्विष्टकृत् कहा जाता है, परिपूर्ण एवं अच्छा किया हुआ बनाये तथा हमारे द्वारा भली प्रकार से सम्पादित समझे"। इसके उपरांत पिता अपने मुख को शिशु के दक्षिण कर्ण की ओर ले जाकर 'वाक्' शब्द को तीन बार उच्चारित करता है, तब दधि, घृत एवं मधु मिश्रित करके शिशु को स्वर्ण के चम्मच से पान कराता है एवं तीनो महाव्याहृतियों का इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–"मै तुम में भूः रखता हूँ, भुवः स्थापित करता हूँ, स्वः स्थापित करता हूँ और तुममें भूर्भुवःस्वः सभी को एक साथ स्थापित करता हूँ। अब नवजात शिशु को "तू वेद है ऐसा कहकर नाम रखता है। यही उसका गुप्त नाम रहता है"।[1] अब तीनों महाव्याहृतियों का मंत्रोच्चारण एवं शिशु का गुप्त नाम रखने के उपरांत शिशु को माँ का स्तन प्रदान करते हुये ऋग्वेदस्थ इस मंत्र का उच्चारण किया जाता है–

> यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
> यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः।।[2]

जातकर्म संस्कार के अग्रिम कृत्य में अब शिशु की माता को भी मन्त्रोंच्चारण के साथ सम्बोधित किया जाता है।

पिता, पुत्र के मुख पर दृष्टिपात् करके अमृतत्त्व की प्राप्ति कर लेता है, ऐसा वर्णन इस श्लोक में प्राप्त होता है–

> ऋणमस्मिन् सन्नयति अमृतत्त्वञ्च गच्छति।
> पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवितो मुखम्।।[3]

---

1. बृहदादरण्यकोपनिषद्–6/4/24–28
2. ऋग्वेद–1/164/49
3. व0 स्मृति–17/1

जातकर्म संस्कार एक पवित्र संस्कार है, इसे नाभिछेदन के पूर्व ही सम्पन्न करना चाहिये, क्योंकि नाभि–छेदन अपवित्र कर्म है और उसमें सूतक प्रारम्भ हो जाता है।

जातकर्म के विधि–विधान क्रमशः इस प्रकार प्रयुक्त किये जाते हैं–

(1) होम–आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार "अग्नि तथा अन्य देवताओं के लिये होम करना चाहिये। होम के उपरांत शिशु को मधु एवं घृत का प्राशन कराकर अग्नि को आहुति समर्पित करना चाहिये"।[1]

(2) मेघाजनन–जातकर्म संस्कार की मुख्य प्रक्रिया में 'मेधाजनन' कृत्य सम्पादित किया जाता है। 'मेधाजनन' का सामान्यः दो अर्थ हैं– आश्वलाय न एवं शांखायन के अनुसार "शिशु के दक्षिण कर्ण में मन्त्रोच्चारण को 'मेधाजनन' कहते हैं"।[2] वैखानस, हिरण्यकेशी एवं गोभिल गृह्यसूत्र के अनुसार 'मेधाजनन' में शिशु को दधि, घृत आदि का प्राशन कराने के लिये कहा गया है। सामान्यतः "मेधाजनन" में पिता अपनी चतुर्थ अंगुलि एवं एक स्वर्ण की शलाका से शिशु को मधु एवं घृत अथवा मात्र घृत का प्राशन कराते हुये इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

ऊँ भूस्त्वयि दधामि ।।1।। ऊँ भूवस्त्वयि दधामि ।।2।।

ऊँ स्वस्त्वयि दधामि।।3।। ऊँ भूर्भुवः स्वः त्वयि दधामि।।4।।

वस्तुतः 'मेधाजनन' से शिशु का बौद्धिक विकास सम्पन्न किया जाता है। इस कृत्य में महाव्याहृतियों का उच्चारण शिशु के बौद्धिक विकास का प्रतीक है। महाव्याहृतियों के माध्यम से शिशु के बुद्धि एवं विवेक–शक्ति को ईश्वर की ओर

---

1. आश्वलायन गृह्यसूत्र–परिशिष्ट–1/26
2. आश्वलायन एवं शाखायन (1/24/9)

प्रेरित किया जाता है। इस कृत्य में जिन पदार्थों का शिशु को प्राशन कराते हैं, वे शिशु के बौद्धिक एवं मानसिक विकास में सहायक सिद्ध होते हैं।

सुश्रुत भी उपर्युक्त तथ्य का समर्थन करते है, उनका कथन है कि–"घृत" सौन्दर्य–वर्धक है, मेधावर्धक है तथा मधुर है, यह योषापस्मार, शिरोवेदना, ज्वर, अपच तथा तिल्ली का निवारक है, यह पाचनशक्ति, स्मृति, बुद्धि, प्रज्ञा, तेज, मधुरध्वनि, वीर्य एवं आयु का उन्नयन करने वाला है"।[1]

इसप्रकार यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि मेधाजनन की प्रक्रिया शिशु के बौद्धिक चेतना का उन्नयन करती है, जिससे शिशु के अन्तः में जीवन्तता का विस्तार होता है एवं ज्ञानमय तथा मनोमय कोशों में तीव्र स्फुरण प्रारम्भ होता है।

(3) आयुष्य–पिता इस कृत्य में शिशु के नाभि स्थान एवं दक्षिण कर्ण के समीप जाकर उसके दीर्घायुष्य के निमित्त इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–"अग्नि दीर्घजीवी है, वह वृक्षों में दीर्घजीवी है। मै इस दीर्घ आयु से तुझे दीर्घजीवी करता हूँ। सोम दीर्घजीवी है, वह वनस्पतियों द्वारा दीर्घजीवी है, आदि। ब्रह्मा दीर्घजीवी है, वे अमृतत्त्व के द्वारा दीर्घजीवी है, आदि। यज्ञ दीर्घजीवी है, वह यज्ञीय अग्नि के द्वारा दीर्घजीवी है, आदि। समुद्र दीर्घजीवी है, वह नदियों द्वारा दीर्घजीवी है"।[2] इस प्रकार शिशु के कर्ण के समीप दीर्घायुष्य सम्बन्धी मंत्र का उच्चारण करके शिशु के दीर्घायु हेतु उसे ईश्वर की ओर प्रेरित किया जाता है।

(4) अंसाभिमर्शन (शिशु के दोनों स्कन्धों का स्पर्श करना)–इस कृत्य में पिता शिशु के स्कन्धों को 'वात्सप्र' अनुवाक् के साथ स्पर्श करता है।

---

1. सुश्रुत–शरीरस्थान–अध्याय–45
2. पारस्कर गृहसूत्र–1/16/6

(8) देशाभिमन्त्रण–इस कृत्य में उस पवित्र भूमि का समादर किया जाता है, जहाँ पर शिशु ने जन्म ग्रहण किया है। पारस्कर गृह्यसूत्र में उस पवित्र भूमि की इस प्रकार प्रशंसा व्यक्त की गयी है– हे पृथ्वी! मै तेरा हृदय जानता हूँ, वह हृदय जो आकाश एवं चन्द्रमा में रहता है, मै उसे जानता हूँ, वह भी मुझे जाने। अग्रिम प्रार्थना है "हम शत् शरद्ऋतुओं को देखें, हम शत् शरत्ऋतु पर्यन्त श्रवण करें।"[1]

(9) नामकरण–आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के अनुसार "शिशु के जन्म के समय नक्षत्रानुसार गुप्त नाम रखने की तथा जन्म से दसवें दिन वास्तविक नामकरण की व्यवस्था की जाती है"।[2]

सामान्यतः जातकर्म संस्कार के अन्तर्गत जब माता का अभिनन्दन सम्पन्न हो जाता है तो शिशु के नाभि की मुण्डी अलग करके उसे स्नानोपरांत माता का स्तनपान कराया जाता है। पिता जल से परिपूर्ण एक पात्र को माता के सिर के समीप मंत्रोच्चारण के साथ रख देता है। वस्तुतः जल पवित्र एवं भूत–प्रेत निवारक है, अतः माता को उसके संरक्षण में रखा जाता है। सूतिक गृह के समीप अग्नि की विधिवत् स्थापना की जाती है। पत्नी जब तक सूतिका गृह से प्रसव–शय्या का त्याग नही कर देती, पति तब तक उस अग्नि को प्रज्वलित रखता हुआ उसमें धान के छिलके से मिश्रित सरसों के बीज की आहुति प्रदान करता है, क्योंकि इस कृत्य से भूत–प्रेत का निवारण होता है। इस कृत्य में कुछ ऐसे ही अभिचार कथनों का प्रयोग किया जाता है–"शुण्ड एवं मर्क, उपवीर एवं शौण्डिकेय, उल्लूखल एवं मलिम्लुच, द्रोणाश एवं च्यवन यहाँ से दूर हों, स्वाहा! अलिखित, अनिमिष, किम्वदन्त, उपश्रुति, हर्यक्ष, कुम्भिनशुत्रु, पात्रपाणि, नृमणि, हन्तृमुख, सर्षपारूण एवं च्यवन यहाँ से दूर हों, स्वाहा"।[3]

1. पारस्कर गृह्य सूत्र–1/16/13
2. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र–15/2–3 एवं 8
3. पारस्कर गृह्यसूत्र–1–16–19

वस्तुतः मंत्र में प्रयुक्त किये जाने वाले उपर्युक्त नाम उन व्याधियों से सम्बद्ध है, जो शिशु के शरीर में कष्ट उत्पन्न कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में जब शिशु पर रूग्णता रूपी प्रेत घात करे, तो पिता शिशु को एक उत्तरीय से ढँककर अपने अङ्क में लेकर इस प्रकार कथन करता है–"शिशुओं पर आक्रमण करने वाले सुकूर्कुर, कुर्कूट उसे मुक्त कर दो। हे सिसर! मैं तुम्हारे प्रति आदर प्रकट करता हूँ।"[1] सामान्यतः उपर्युक्त वचन का अभिप्राय आधिदैविक एवं आध्यात्मिक कष्टों के निवारणार्थ हैं। जातकर्म संस्कार के समापन में ब्राह्मणों को समुचित दक्षिणा प्रदान की जाती है। ब्रह्म तथा आदित्य पुराण के कथनानुसार "पुत्र के जन्म पर द्विजाति के गृह पर संस्कार को देखने के लिये देव एवं पितर आते हैं, अतः यह समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं आह्लदकारी है। इस तिथि (ऐसे समय पर) पर स्वर्ण, भूमि, गौ, अश्व, छत्र, अज, माला, शय्या एवं आसन आदि का दान करना चाहिये।[2]

जातकर्म संस्कार में दक्षिणा के सन्दर्भ में वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश में व्यास का कथन इस प्रकार है–"पुत्रजन्मनि रात्रायां शर्वर्यां दत्तमक्षयम्"।[3]

अर्थात् पुत्रजन्म की रात्रि में दिये हुये दान से अक्षय पुण्य प्राप्त होता है।

वैखानस के अनुसार "दसवें या बारहवें दिन पिता केश कटवाता है, गृह स्वच्छ करता है, स्नान करता है एवं किसी अन्य गोत्र वाले व्यक्ति के द्वारा जातकाग्नि में पृथिवी के लिये यज्ञ करता है। इसके उपरांत औपासन (गृह्याग्नि) को मँगवाता है, धाता आहुति देता है, वरूण को पाँच आहुति देता है एवं ब्राह्मणों को भोजन कराता है"।[4]

---

1. पारस्कर गृह्यसूत्र–1/16/20
2. वीरमित्रोदय सस्कार प्रकाश–भाग–1–पृष्ठसख्या–199
3. वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश –भाग–1 पृष्ठ सख्या 199
4. वैखानस गृह्यसूत्र 3/18

जातकर्म संस्कार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

जातकर्म संस्कार के माध्यम से गर्भिणी के प्रसव से शिशु की अपवित्रता का शोधन किया जाता है। जातकर्म संस्कार के प्रति पिता का चिंतनशील होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि प्रसवकाल के समय हानिकारक पदार्थों का भी श्राव होता है, जिससे शिशु की रक्षा की जाती है, अन्यथा शिशु को किसी भी प्रकार का शारीरिक एवं मानसिक कष्ट हो सकता है। चिंतन (Thinking) के विषय में मनोविज्ञान का विचार है "चिन्तन **(Thinking)**, प्रत्यक्षीकरण **(Perception)** एवं कल्पना **(Imagination)** की भाँति ही एक संज्ञानात्मक प्रक्रिया है।"[1] शिशु के प्रसवकाल में उसका पिता संवेदना के आधार पर प्रत्यक्षीकरण भी करता है एवं शिशु को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो, उसके लिये पिता जातकर्म कृत्य में चिंतनशील हो जाता है। 'मेधाजनन' कृत्य के समय शिशु को मंत्रोच्चारण के साथ मधु एवं घृत का प्राशन कराया जाता है, इस कृत्य के माध्यम से शिशु का मानसिक एवं बौद्धिक उन्नयन सम्पन्न करते है। महाव्याहृतियों के उच्चारण से उसके बुद्धि–विवेक को ईश्वर में केन्द्रस्थ किया जाता है। मेधाजनन कृत्य में प्रयुक्त किये जाने वाले घृत के विषय में सुश्रुत का कथन इस प्रकार है–"घृत सौन्दर्यवर्धक, मेधावर्धक तथा मधुर है, यह योषापस्मार, शिरोवेदना, ज्वर, अपच तथा तिल्ली का निवारक है, यह पाचन–शक्ति, बुद्धि, स्मृति, प्रज्ञा, तेज, मधुर ध्वनि, वीर्य एवं आयु का उन्नयन करने वाला है।"[2] आधुनिक मनोविज्ञान भी बुद्धि के विकास को प्राथमिकता देता है–

"The relation of intelligence and Success in life."[3]

"जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये बुद्धि का महत्त्वपूर्ण योगदान है।"

---

1. शिक्षा मनोविज्ञान– डा0 एस0 एस0 माथुर–पृष्ठ 314
2. सुश्रुत–शरीरस्थान–अध्याय–45
3. शिक्षा मनोविज्ञान–डा0एस0एस0 माथुर, पृष्ठ–131

इस प्रकार 'मेधाजनन' कृत्य चिकित्सकीय एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शिशु के अन्तः में जीवन्तता का विस्तार करता है, जिससे शिशु के ज्ञानमय एवं मनोमय कोश में तीव्र स्फुरण प्रारम्भ होता है। 'आयुष्य' के अन्तर्गत पिता शिशु के दक्षिण कर्ण पर जाकर पवित्र मंत्रों का उच्चारण करता है, जिससे नवजात शिशु के मस्तिष्क में सक्रियता प्रारम्भ हो जाती है। शिशु के कर्णो में मंत्रोच्चारण करके उसके श्रद्धामूलक प्रवृत्ति को जागृत करके ईश्वर के प्रति ध्यानस्थ किया जाता है। सामान्यतः जातकर्म संस्कार के 'आयुष्य' कृत्य से शिशु में अधिगम की संवेदना उत्पन्न की जाती है, जिससे आगे चलकर समाज में विभिन्न विषयों का प्रत्यक्षीकरण (Perception) हो सके। अधिगम के विषय में मनोविज्ञान का कथन इस प्रकार है–

"Learning is modification of behaviour through experience."[1]

"मात्रभिमंत्रण" कृत्य में पिता, शिशु के माता की वैदिक मंत्रों से स्तुति करता है, क्योंकि अब वह मातृस्वरूप है। माता की स्तुति करने के कारण, माता को अपना कर्त्तव्यबोध होता है एवं उसके अन्तः में आत्मविश्वास की अभिवृद्धि होती है। माता तनावमुक्त होकर ही शिशु को स्तनपान कराने में सक्षम हो सकती है। मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है कि मानसिक स्वास्थ्य एक महत्त्वपूर्ण विषय है। मानसिक स्वास्थ्य के विषय में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक हेडफिल्ड का कथन इस प्रकार है–

"In General terms we may say that mental health is the harmonious functioning the whole personality".[2]

वस्तुतः 'मात्रभिमंत्रण' कृत्य से शिशु की माता को एक संतुलित मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करते हैं, जिससे वह शिशु को तनावमुक्त होकर अमृतमय दुग्धपान करा सके।

इसप्रकार जातकर्म संस्कार मनोवैज्ञानिक चिंतन तथा चिकित्सकीय अवधारणा से परिपूर्ण है।

---

1. Gates & Others -Educational Psychology-P-288
2. शिक्षामनोविज्ञान–डा० एस० एस० माथुर–पृ० 375

नामकरण संस्कार

मानव सभ्यता–संस्कृति के विकास क्रम में भाषा का भी समुचित विकास हुआ है। प्रारम्भिक काल में मानव–जीवन के सामान्य व्यवहार में विभिन्न पदार्थों एवं वस्तुओं का नित्य प्रयोग होता था। कालान्तर में मानव ने वस्तुओं के विशेष चिन्ह् को ध्यान में रखते हुये प्रत्येक वस्तु का नाम निर्धारित कर दिया। वस्तुओं एवं पदार्थों के नामकरण से वस्तुओं को कहने, माँगने एवं देने में, उन वस्तुओं को विशेष नाम से सम्बोधित करने के कारण मानव–व्यवहार अधिक सुविधाजनक हो गया। सामाजिक विकास क्रम में आगे चलकर मनुष्यों के नामकरण की व्यवस्था भी कर दी गयी। 'नामन्' शब्द भारतीय आर्यो के ऋग्वेद संहिता तथा संस्कृत साहित्य में भी पाया जाता है। ऋग्वेद में गुह्यनाम की मान्यता प्रचलित है। नामकरण संस्कार के विषय में बृहस्पति का मन्तव्य इस प्रकार है–

> नामाखिलस्य व्यवहार हेतुः शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः।
> नाम्नैव कीर्ति लभते मनुष्यस्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म।।[1]

अर्थात् नाम अखिल व्यवहार का हेतु है, वह शुभावह कर्मो में भाग्य का हेतु है। नाम से ही मनुष्य कीर्ति प्राप्त करता है, अतः नामकरण संस्कार अत्यंत प्रशस्त है।

सामान्यतः मानवीय सभ्यता–संस्कृति में मनुष्यों का नाम श्रेष्ठ ऋषि, सन्त, महात्मा एवं देवताओं के नाम पर रखा जाता है, जिससे बालक में नाम के अनुरूप संस्कार उत्पन्न हो सके।

पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार "नाम दो अथवा चार अक्षरों वाला होना चाहिये, उसे व्यंजन से आरम्भ होना चाहिये, इसमें अर्धस्वर होना चाहिए तथा 'नाम' का अन्त दीर्घस्वर अथवा विसर्ग के साथ होना चाहिये। नाम में कृत्

---

1. बृहस्पति–वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश–भाग–1–पृ0–241

प्रत्यय का प्रयोग ही उचित है, तद्धित का प्रयोग समीचीन नहीं है।"[1] बैजवाप नाम के विषय में इस प्रकार कथन करते हैं–

"पिता नाम करोति एकाक्षरं, द्वयक्षरं त्र्यक्षरम् अपरिमिताक्षरं वा" ।[2]

अर्थात् पिता को एकाक्षर, द्वयक्षर या अपरिमिताक्षर का नाम रखना चाहिये। नाम के सन्दर्भ में आश्वलायन गृह्यसूत्र का कथन इस प्रकार है–

"द्वयक्षरं प्रतिष्ठा कामश्चतुरक्षरं ब्रह्मवर्चसकामः।"[3]

अर्थात् "प्रतिष्ठा या यश की अभिलाषा रखने वाले को दो अक्षर एवं ब्रह्मवर्चस् की कामना रखने वाले को चार अक्षर का नाम रखना चाहिये। बालकों के नाम के निमित्त सम संख्यक अक्षर उपयुक्त है। बालिकाओं के नाम में विषम एवं आकारांत अक्षरों का प्रयोग होता है, इसमें तद्धित का भी प्रयोग किया जाता है। बालिकाओं के नाम के सन्दर्भ में दृष्टांत इस प्रकार है–

"अयुजाक्षरमाकारान्तं स्त्रियै तद्धितम्।"[4]

स्त्रीयों के नाम के सन्दर्भ में बैजवाप का कथन इस प्रकार है –

"त्र्यक्षरमौकारान्तं स्त्रियाः।"[5]

अर्थात् बालिकाओं का नाम त्र्यक्षर एवं ईकारांत अक्षरों वाला होना चाहिये। मनु ने भी स्त्री नाम के विषय में अपना मन्तव्य इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

स्त्रीणां च सुखमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
माङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्।।[6]

अर्थात् "स्त्री का नाम उच्चारण करने में सुखकर तथा सरल, श्रवण में अहिंसक, विस्पष्टार्थ तथा मनोहर, मंगलसूचक, दीर्घवर्णान्त तथा आशीर्वाद से

---

1. पारस्कर गृह्यसूत्र–1/17/1
2. वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश–भाग–1–पृ0 संख्या–241
3. आश्वलायन गृह्यसूत्र–1/15/5
4. पारस्कर गृह्यसूत्र–1/17/3
5. वीरामित्रोदय संस्कार प्रकाश–भाग–1–पृ0 243
6. मनुस्मृति–2/23

युक्त होना चाहिये"। मनु के अनुसार "स्त्री का नाम नक्षत्र, वृक्ष, नदी, पर्वत, पक्षी, सर्प एवं सेवक के नाम पर तथा भयावह नाम नही रखना चाहिये"।[1] मनु के अनुसार उपर्युक्त नाम वाली कन्याओं से विवाह नही करना चाहिये। इस सन्दर्भ में यही निर्णय बनाया जा सकता है कि उपर्युक्त नाम सभ्य समाज में प्रचलित नही थे। मनु ने वर्णो के आधार पर भी कथन इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्।।[2]

अर्थात् "ब्राह्मण का नाम मङ्गलसूचक, क्षत्रिय का बलसूचक, वैश्य का धन एवं शूद्र का जुगुप्सा से सम्बद्ध रखना चाहिये," उदाहरणार्थ–ब्राह्मण का लक्ष्मीनारायण, क्षत्रिय का अर्जुन, वैश्य का महाधन व धनीराम एवं शुद्र का नरदास नाम युक्तिसंगत प्रतीत होता है। पुनः मनु का कथन इस प्रकार है– "ब्राह्मण का नाम सुख एवं आनन्द सूचक, क्षत्रिय का रक्षा तथा शासन की क्षमता सूचक, वैश्य का पुष्टि एवं ऐश्वर्य सूचक तथा शूद्र का दासता, सेवा एवं आज्ञा प्रकट करने वाला होना चाहिये।"[3] नक्षत्रों के आधार पर भी नामकरण किया जाता था। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार "जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हो उसी नक्षत्र के अधिष्ठातृ–देवता के अनुसार उसका नामकरण करते है।"[4] नक्षत्र नाम के उदाहरण स्वरूप आश्विन् नक्षत्र के व्यक्ति को अश्विनी कुमार कहा जाता है। पुरातन ग्रन्थों में मास के देवता के आधार पर भी नामकरण का प्रचलन था, इस सन्दर्भ में गार्ग्य का कथन इस प्रकार है–

कृष्णोऽनन्तोऽच्युतश्चक्री वैकुण्ठोऽथ जनार्दनः।
उपेन्द्रो यज्ञपुरूषो वासुदेवस्तथा हरिः।
योगीशः पुण्डरीकाक्षो मासनामान्यनुक्रमात्।।[5]

अर्थात् गार्ग्य के अनुसार मार्गशीर्ष से आरम्भ होने वाले नाम "कृष्ण, अनन्त, अच्युत, चक्री, बैकुण्ठ, जनार्दन, उपेन्द्र, यज्ञपुरूष, वासुदेव, हरि, योगीश तथा

---

1 मनुस्मृति–3/9
2. मनुस्मृति–2/31
3. मनुस्मृति–2/32
4. आश्वलायन गृह्यसूत्र–1/15/4
5. वीरमित्रोदय सस्कार प्रकाश–भाग–1–पृष्ठ सं0 –237

पुण्डरीकाक्ष है"।[1] "सामान्यतः मास के देवता के आधार पर बालक का द्वितीय नाम रखा जाता था एवं तृतीय नाम कुल देवता के आधार पर रखा जाता था–

"कुलदेवतासम्बद्धं पिता नाम कुर्यादिति।"[1]

नामकरण संस्कार के संदर्भ में बालक एवं बालिका के नामकरण का अन्तिम आधार लौकिक नाम है। नाम उच्चारण में सरल एवं सुखद होना चाहिये, पुरूष का सबल एवं स्त्री का कोमल नाम होना चाहिये। स्त्री का नाम स्त्रीलिङ्ग आकारांत एवं ईकारांत होना चाहिये। स्त्री नाम में अक्षरों की विषम संख्या का कारण स्त्री प्रकृति ही है। एक अन्य सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति के नाम को यज्ञ, समृद्धि एवं शक्ति का द्योतक होना चाहिये। विद्वानों ने प्रतीकात्मक एवं निन्दा सूचक नामकरण का निषेध किया है।

इसप्रकार मनुष्य के नामकरण के व्यवस्था के पीछे विद्वानों का दार्शनिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक चिंतन अंतर्निहित है।

नामकरण संस्कार प्रक्रिया

शिशु के नामकरण संस्कार की प्रक्रिया उसके जन्म के उपरांत दसवें अथवा बारहवें दिवस पर सम्पन्न करते हैं।[2] "शिशु का गुह्यनाम तो जन्म के प्रथम दिन ही रखा जाता है, किन्तु परवर्ती विकल्प में नामकरण जन्म के पश्चात् दसवें दिन से लेकर द्वितीय वर्ष के प्रथम दिन तक सम्पादित किया जाता है। शिशु के नामकरण के सन्दर्भ में बृहस्पति का कथन इस प्रकार है–

द्वादशाहे दशाहे वा जन्मतोऽपि त्रयोदशे।
षोडशैकोनविंशे वा द्वात्रिंशे वर्णतः क्रमात्।।[3]

---

1 वीरमित्रोदय सरकार प्रकाश–भाग–1–पृष्ठ सं0 237
2 शाखायन गृह्यसूत्र–1/24/4, आश्वलायन गृह्यसूत्र–1/15/4, पारस्कर गृह्यसूत्र- 1/17
3. वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश–भाग–1–पृष्ठ सं0 -234

सामान्यतः माता के प्रसवकाल के उपरांत जब अशौच समाप्त हो जाता है, तो गृह को विधिवत् स्वच्छ करके उसका शुद्धीकरण कर लेते हैं, इसके उपरांत शिशु एवं उसकी माता को पवित्र जल से स्नान कराते हैं। नामकरण संस्कार के पूर्व में ही आरम्भिक मांगलिक कृत्यों का आयोजन किया जाता है। गोभिल गृह्यसूत्र के अनुसार "माता शिशु को वस्त्र से आवृत करके (ढॅककर), उसके सिर को जल से आर्द्र करके पिता के सुरक्षित हाथ में रख देती है।"[1] अब इस कृत्य में प्रजापति, तिथि, नक्षत्र तथा उनके देवता, अग्नि और सोम को आहुतियाँ समर्पित करते हैं।[2] इस कृत्य में यह भी आवश्यक है कि शिशु संस्कार की ओर दृष्टिपात् करे, इसीलिये पिता शिशु के श्वॉस–प्रश्वाँस को संस्पर्श करता है। अब शिशु के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रकट करने वाला नाम रखा जाता है। नामकरण संस्कार में शुभ तिथि, नक्षत्र एवं मुहूर्त का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

"शिशु के नामकरण के अवसर पर पिता उसके दक्षिण कर्ण में इस प्रकार कथन करता है–"हे शिशो! कुल देवता का भक्त है, तेरा नाम———है, तू इस मास में उत्पन्न हुआ है, अतः तेरा नाम————हैं, तू इस नक्षत्र में जन्मा है, अतः तेरा नाम............है तथा तेरा लौकिक नाम——– प्रतिष्ठित हो। इसके उपरांत पिता शिशु को लेकर, ब्राह्मणों का अभिवादन करता है एवं ब्राह्मण शिशु को "सुन्दर शिशु, दीर्घायु हो" ऐसा आशीर्वचन कहते है।"[3] सामान्यतः नामकरण संस्कार के अन्त में ब्राह्मणों को भोजन एवं दक्षिणा प्रदान करके माता–पिता एवं शिशु उनका आशीर्वाद प्राप्त करते है। इस प्रकार शिशु के व्यक्तित्त्व का सर्वांगीण विकास करने वाला नामकरण संस्कार सम्पादित किया जाता है।

---

1. गोभिल गृह्यसूत्र–3/7/15
2. स्वामीदयानन्द–सरकार विधि।
3. पण्डित भीमसेन शर्मा– षोडश सस्कार–'नामकरण संस्कार प्रकरण'

नामकरण संस्कार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

शिशु का नाम सुनिश्चित करना ही 'नामकरण' संस्कार कहा जाता है। शिशु का नाम एक महत्त्वपूर्ण कृत्य है, क्योंकि नाम व्यक्ति के सर्वांगीण विकास का द्योतक होता है। व्यक्ति के 'नाम' का उसके शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण योगदान है। वस्तुतः स्वयं के नाम का श्रवण करके मनुष्य सुखानुभूति प्राप्त करता है। गृह्यसूत्रों के अनुसार व्यक्ति के सुव्यवस्थित नामकरण से उसके सामाजिक जन-जीवन में सकारात्मक प्रभाव उत्पन्न होता है। यदि व्यक्ति के नाम का भावार्थ दुःखपूर्ण एवं कष्टप्रद है, तो उसके अन्तःकरण में कुंठा (Frustration)[1] एवं अवसाद (Depression)[2] का भाव उत्पन्न होता है। इसी क्रम में धार्मिक एवं आध्यात्मिक भाव को सूचित करने वाले नाम से व्यक्ति की मनोवृत्ति भी शनैः-शनैः आध्यात्मपरक् हो जाती है। इस प्रकार व्यक्ति के नाम का भावार्थ उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व को प्रभावित करता है, अतएव सार्थक एवं उत्तम नाम से सुव्यवस्थित व्यक्तित्त्व का निर्माण होता है। व्यक्तित्त्व के विषय में आधुनिक मनोविज्ञान का विचार इस प्रकार है-

"Personality is the dynamic organization with the individual of those psycho-physical systems that determine his unique adjustment to his environment".[3]

व्यक्ति के नाम के महत्त्व के विषय में बृहस्पति का कथन प्रासंगिक प्रतीत होता है, यह नाम के व्यवहारिकता एवं सामाजिकता को प्रदर्शित करता है-

"नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः।
नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्यस्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म।।"[4]

इसप्रकार शिशु का नामकरण उसके व्यक्तित्त्व के सर्वांगीण विकास का महत्त्वपूर्ण कारक है।

---

1. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश-निमला शेरजंग।
2. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश-निमला शेरजंग।
3. Allport, H.W : "Personality : A psychological introduction" 1937 Henry Holt. N.Y. p 46
4. बृहस्पति-वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश-भाग-1--पृ0 249

निष्क्रमण संस्कार

शिशु का गृह से बाहर प्रस्थान करना अथवा निकलना ही निष्क्रमण कहलाता है। शिशु को जन्म देने के कुछ दिवस के उपरांत उसकी माता पुनः पारिवारिक जीवन में संलग्न हो जाती है। परिवार में विभिन्न सदस्यों के साथ रहने के कारण शनैः–शनैः शिशु का संसार भी विस्तृत होने लगता है। प्रारम्भ में शिशु घर के प्रौढ सदस्यों एवं अन्य सदस्यों के साथ क्रीड़ा करता है तथा घर के विषय को समझने की चेष्टा करता है। कुछ समय के उपरांत शिशु को वह स्थान अपने विकास क्रम से सीमित प्रतीत होता है, अतः शिशु के विभिन्न अंगों की समुचित गतिविधि एवं तुष्टि के लिये माता–पिता उसे बाह्य संसार से परिचित कराने का विचार करते हैं। शिशु अत्यन्त लघु होने के कारण घर के बाहर प्राकृतिक तथा अतिप्राकृतिक कष्टों से असुरक्षित रहता है। शिशु को बाह्य संकट एवं आपदाओं से उसकी रक्षा के निमित्त देवताओं की पूजा–अर्चना का कृत्य सम्पादित किया जाता है। इसी गृह–निष्क्रमण की सम्पूर्ण पद्धति को निष्क्रमण–संस्कार कहते है। शिशु को घर से बाहर ले जाने के सन्दर्भ मे विधि–विधान अत्यन्त प्राचीन रहा है। इस संस्कार के समय शिशु को सूर्य की ओर दृष्टिपात् कराते हुये "तच्चक्षुर्देवहितम्"[1] मंत्र का सामान्यतः उच्चारण किया जाता है।

गृह्यसूत्र में निष्क्रमण की विधि अत्यन्त सरल है। इसके कथनानुसार "पिता शिशु को गृह से बाहर ले जाकर सूर्य का दर्शन कराते हुये "तच्चक्षुर्देवहितम्" मंत्र का उच्चारण करता है।"[2]

निष्क्रमण संस्कार में शिशु की अवस्था के सन्दर्भ में विद्वानों में भिन्न–भिन्न मत प्रचलित है। "निष्क्रमण संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् बारहवें दिन से चतुर्थ मास तक भिन्न–भिन्न है।"[3] "भविष्यपुराण तथा बृहस्पति–स्मृति इस संस्कार के लिये बारहवें दिन का विधान करते हैं।"[4]

---

1 शुक्लयजुर्वेद–36/24
2 पारस्कर गृह्यसूत्र–1/17/5–6
3. मनुस्मृति–2/134
4. वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश–भाग–1–पृष्ठ–250

निष्क्रमण संस्कार के काल के सन्दर्भ में यम ने तृतीय एवं चतुर्थ मास को विकल्प से प्रस्तुत किया है। तृतीय मास में शिशु को सूर्यदर्शन कराना चाहिये एवं चतुर्थ मास में चन्द्र दर्शन, ऐसा कथन प्राप्त होता है–

ततस्तृतीये कर्त्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम्।
चतुर्थमासि कर्त्तव्यं शिशोश्चन्द्रस्य दर्शनम्।।[1]

सामान्य क्रम में विवेचन करने से यह सुस्पष्ट होता है कि उपर्युक्त निष्क्रमण का समय माता–पिता के सुविधा एवं शिशु के स्वास्थ्य पर ही पूर्णतः आधारित था। मुहूर्त–संग्रह निष्क्रमण संस्कार में शिशु के मामा की उपस्थिति को इस प्रकार निर्देशित करता है–"उपनिष्क्रमणे शास्ता मातुलो वाह्येच्छिशुभम्"।[2]

सामान्यतः शिशु के माता–पिता निष्क्रमण संस्कार को सम्पादित करते है।

निष्क्रमण संस्कार प्रक्रिया

निष्क्रमण संस्कार प्रारम्भ करने से पूर्व शुभ तिथि एवं मुहूर्त का विचार अवश्य कर लेना चाहिये। निष्क्रमण की तिथि सुनिश्चित हो जाने पर माता ऑगन को गोबर एवं मृत्तिका से लीपती है एवं उस पर, एक 'स्वास्तिक' निर्मित करके, धान्य कणों को विकीर्ण कर देती है। इस कृत्य में यह ध्यान रखते है कि ऑंगन वर्गाकार हो एवं वहॉ से सूर्य का दर्शन सरलता से हो सके। गृह्यसूत्रों के अनुसार निष्क्रमण संस्कार से सम्बद्ध समस्त प्रकार की प्रारम्भिक व्यवस्था हो जाने के उपरांत पिता, शिशु को अपने हाथ में लेकर,उसे सूर्य का दर्शन कराते हुये इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम् शरदः शतं जीवेम् शरदः शत७शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शमतदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।।[3]

इस प्रकार शिशु को सूर्य का पवित्र दर्शन कराने के उपरांत ब्राह्मणों को भोजन एवं दक्षिणा प्रदान करने के साथ निष्क्रमण संस्कार सम्पन्न हो जाता है।

'निष्क्रमण संस्कार' का व्यावहारिक प्रयोजन शिशु को वाह्य–वातावरण का परिचय कराना है। इस संस्कार में देवपूजन एवं मांगलिक मंत्रों के उच्चारण से शिशु के मस्तिष्क में दैवीय–अनुभूति का अविस्मरणीय संस्कार विकसित किया जाता है।

---

1. यम–वीरमित्रोदय सस्कार प्रकाश–भाग–1–पृष्ठ-250
2. वीरमित्रोदय सस्कार प्रकाश–भाग–1–पृष्ठ-253
3. शुक्लयजुर्वेद–36/24

निष्क्रमण संस्कार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

शिशु के गृह से बाहर प्रस्थान करने से सम्बद्ध कृत्य निष्क्रमण संस्कार कहा जाता है। शनैः-शनैः शिशु के विकास क्रम में उसे वाह्य-पर्यावरण में जाना आवश्यक हो जाता है। निष्क्रमण संस्कार को सम्पादित करने के पीछे भय (Fear) नामक मूलप्रवृत्ति रहती है। वस्तुतः शिशु के माता-पिता, शिशु के बाहर निकलने पर वाह्य-आपदाओं से भयभीत रहते है, अतएव निष्क्रमण संस्कार के कृत्य के माध्यम से शिशु का वाह्य-वातावरण से सामंजस्य स्थापित करने का एक सफल प्रयास किया जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी 'भय की मूलप्रवृत्ति' (Instinct of Fear)[1] को स्वीकार करता है। प्रारम्भिक स्थिति में शिशु घर में ही आसक्त रहता है, अतः निष्क्रमण-कृत्य के माध्यम से शिशु में वाह्य-पर्यावरण के प्रति अवधान एवं रूचि उत्पन्न करते है। मनोविज्ञान भी अवधान एवं रूचि का समर्थन इस प्रकार करता है-

"Interest is latent attention, attention is interest in action."[2]

निष्क्रमण संस्कार में शिशु को सूर्य का दर्शन कराना, उसके के लिये एक महत्त्वपूर्ण कौतूहल का विषय रहता है, जिससे शिशु के अन्तःकरण में वाह्य-पर्यावरण के प्रति रूचि एवं स्नेह उत्पन्न होता है। रूचि (Interest) के सन्दर्भ में मनोविज्ञान का विचार भी अनुकरणीय है- "रूचि को एक प्रेरक शक्ति नही कहा जा सकता है, जो हमारे ध्यान को व्यक्ति, वस्तु या क्रिया की ओर उन्मुख करती है, प्रत्युत् इसे एक प्रभावपूर्ण अनुभव कहा जा सकता है, जो स्वयं अपनी ही सक्रियता से उत्तेजित होता है"।[3]

---

1. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश-निर्मला शेरजंग
2. शिक्षा मनोविज्ञान--डा0 एस0 एस0 माथुर- पृ0-294
3. शिक्षा मनोविज्ञान-डा0 एस0 एस0 माथुर-पृ0-293

इस प्रकार निष्क्रमण संस्कार के माध्यम से शिशु में वाह्य–वातावरण के प्रति रूचि (Interest) एवं आत्मविश्वास (Self confidence) उत्पन्न किया जाता है, जिससे वाह्य–वातावरण में वह अपने जीवन को समायोजित कर सके।

निष्क्रमण संस्कार में अधिगम (Learning) की प्रवृत्ति भी स्पष्टतः प्रतीत होती है। शिशु के वाह्य–निष्क्रमण के द्वारा उसे शिक्षा भी प्रदान की जाती है और शिशु उसे अधिगम (Learning) के द्वारा आत्मसात् कर लेता है। अधिगम (Learning) को मनोविज्ञान भी संस्तुति प्रदान करता है–**"Learning consists to in doing something new, provided this something new is retained by the individual and reappears in his later activities"**[1]

1. Woodworth & Marquish, Psychology-P-491

अन्नप्राशन संस्कार

अन्नप्राशन संस्कार शिशु के शरीर को पुष्टि, शक्ति एवं समृद्धि प्रदान करने वाला महत्त्वपूर्ण संस्कार है। शिशु अपने प्रारम्भिक काल में माता के स्तनपान (दुग्ध) पर ही निर्भर रहता है। शिशु के शरीर के शनैः–शनैः विकसित होने पर उसे मातृ–दुग्ध के अतिरिक्त अन्य पौष्टिक आहार की आवश्यकता अनुभूत होती है। इसी कार्य की पूर्णता के लिये अन्नप्राशन संस्कार की व्यवस्था की जाती है, जिससे शिशु के शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति हो सके। इस सन्दर्भ में सुश्रुत ने भी अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया है–

"षण्मासञ्चैनमन्नं प्राशयेल्लघु–हितञ्च"[1]।

अर्थात् सुश्रुत षष्ठ मास में शिशु को माता के दुग्ध से पृथक् करके उसके लिये पथ्य भोजन के प्रकारों का वर्णन करते है"। सामान्यतः सभी गृह्यसूत्रों के अनुसार अन्नप्राशन संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् षष्ठम माह में किया जाता है।[2] मनु[3] एवं याज्ञवल्क्य[4] आदि प्राचीन स्मृतियों का भी यही विचार है। शिशु के अन्नप्राशन काल के सन्दर्भ में नारद का कथन इस प्रकार है–

जन्मतो मासि षष्ठे वा सौरेणोत्तममन्नदम्।
तदभावेऽष्टमे मासे नवमे दशमेऽपि वा।।
द्वादशे वाऽपि कुर्वीत प्रथमान्नाशनं परम्।
संवत्सरे वा सम्पूर्णे केचिदिच्छन्ति पण्डिताः।।[5]

अर्थात् शिशु को चतुर्थ मास के पूर्व अन्न देना कठोरता पूर्वक निषिद्ध था, दुर्बल शिशुओं के लिये यह अवधि अधिक बढ़ायी जा सकती थी। अन्नप्राशन संस्कार जन्म से षष्ठ सौरमास में अथवा स्थगित होने पर आठवें, नवें या दसवें मास में करना चाहिये, किन्तु कतिपय विद्वानों के अनुसार बारहवें मास अथवा एक वर्ष

---

1 सुश्रुत–शरीरस्थान–10/64
2. आश्वलायन गृह्यसूत्र–1/16; पारस्कर गृह्यसूत्र,- 1/19/2, शांखायन गृह्यसूत्र–1/27, बौधायन गृह्यसूत्र -2/3
3 मनुस्मृति–2/34,
4. याज्ञवल्क्य स्मृति–1/12
5 नारद–वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश–भाग–1–पृ0 267

पूर्ण होने पर भी किया जा सकता है।[1] वस्तुतः अन्नप्राशन का अन्तिम समय एक वर्ष ही है, क्योंकि इससे अधिक विलम्ब माता एवं शिशु दोनों के स्वास्थ्य के लिये कष्टकारी होता है। संस्कार हेतु बालकों के लिए सम–मास एवं बालिकाओं के लिये विषम–मास ही उपयुक्त होता है। अन्न की महत्ता के विषय में 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में एक दृष्टांत इस प्रकार है–

"तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरूषविध एव।"[2]

अर्थात् इस अन्नमय शरीर के अन्तः में प्राणमय शरीर है, वह अन्नमय से ही व्याप्त है, यह प्राणमय पुरूष ही आत्मा है।

तैत्तिरीय उपनिषद् ने तो "प्राणो वै अन्नम्" का कथन व्यक्त करके, प्राण एवं अन्न के आन्तरिक सम्बन्ध को प्रतिपादित किया है।

भोजन का स्वरूप

पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार "शिशु को समस्त प्रकार का भोजन विभिन्न स्वादों के मिश्रण के साथ देना चाहिये"।[3] सामान्यतः दधि, घृत, दुग्ध इत्यादि पदार्थ समाज में सरलता से उपलब्ध होते है, इन्हीं पदार्थो को शिशु के भोजन के निमित्त उपयुक्त समझा जाता है। अन्नप्राशन में प्रयुक्त किये जाने वाले भोजन के सन्दर्भ में मार्कण्डेय पुराण का कथन इस प्रकार है–

"मध्वाज्यकनकोपेतं प्राशयेत् पायसन्तु तम्"।[4]

शांखायन एवं आपस्तम्ब गृह्यसूत्र तो शिशु के शरीर के स्वास्थ्य–विकार के निमित्त माँस–सेवन करने का निर्देश करते हैं।[5] सामान्य प्रचलन में शिशु को दुग्ध एवं भात खिलाने का विधान है। सुश्रुत के अनुसार षष्ठ मास में शिशु को लघु एवं हितकर भोजन खिलाना चाहिये–

"षण्मासञ्चैतमन्नं प्राशयेल्लघु हितञ्च।"[6]

---

1 नारद–वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश–1–पृष्ठ–267
2 तैत्तिरीयोपनिषद्–2/2
3. पारस्कर गृह्यसूत्र–1/19/4
4. वीर मित्रोदय संस्कार प्रकाश–भाग–1–पृष्ठ–275
5. शाखायन गृह्यसूत्र–1/27, आपस्तम्ब गृह्यसूत्र–1/16/1
6. सुश्रुत–शरीरस्थान–10/64

उपर्युक्त कथनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शिशु को हितकर एवं लघु भोजन कराये, जिसमें सामान्यतः दधि–दुग्ध, भात, मधु एवं घृत इत्यादि दिया जा सकता है, माँस इत्यादि को विशेष परिस्थिति में देने का विधान है।

अन्नप्राशन संस्कार प्रक्रिया

सामान्यतः किसी शुभ तिथि पर माता–पिता एवं शिशु पवित्र जल से स्नान करते है, शुद्ध श्वेत वस्त्र धारण करते है, गन्ध का अनुलेपन एवं तिलक आदि लगाते है। बालक (शिशु) को सुसज्जित किया जाता है। कृत्य के प्रारम्भ में माता–पिता आचमन करके संकल्प लेते हैं, तब गणपति पूजन, पुण्याहवाचन, मातृका–पूजन एवं नान्दीश्राद्ध का कृत्य सम्पादित किया जाता है। यज्ञीय भोजन को वैदिक–मंत्रोंच्चारण से स्वच्छ करके पकाया जाता है। पक्वान्न के निर्मित होने के उपरांत उसका पवित्रीकरण करके वाग्देवता को इस प्रकार मंत्रोच्चारण के साथ आहुति प्रदान की जाती है–

ॐ देवी वाचमजनयत देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदंति। सा नो मंद्रेष–मूर्जदुहाना धेनुर्वागस्मानुपैतुष्टुतैतु स्वाहा। इदं वाचे नमम्।[1]

अर्थात् देवताओं ने वाग्देवी को उत्पन्न किया है, उसे बहुसंख्यक पशु बोलते हैं, यह मधुर–ध्वनि वाली, अति प्रशंसित वाणी हमारे पास आये, स्वाहा।[1] द्वितीय आहुति ऊर्ज्ज के निमित्त होती है। इस आहुति के समय इस प्रकार मंत्रोच्चारण किया जाता है–

ॐ देवी ऊर्जाहुती दुघे सुदुघेन्द्रे सरस्वत्यश्विना भिषजावतः।
शुक्रं न ज्योति स्तनयोराहुती धत्तऽइन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तुयज।।[2]

कृत्य के समापन में शिशु का पिता स्थालीपाक से मंत्रोच्चारण करता हुआ पुनः चार आहुतियाँ देता है–

ॐ प्राणेनान्नमशीय स्वाहा। इदं प्राणाय नमम्।
ॐ अपानेन गंधानशीय स्वाहा। इदमपानाय स्वाहा।
ॐ चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा। इदं चक्षुषे नमम।
ॐ श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा। इदं श्रोत्राय नमम।[3]

अर्थात् मै उत्प्राण द्वारा भोजन का उपभोग कर सकूँ ,स्वाहा! मै निम्न वायु के द्वारा भोजन का उपभोग कर सकूँ, स्वाहा! मैं अपने नेत्रों के द्वारा दृश्य पदार्थो

---

1 पारस्करगृह्यसूत्र–1/19/2
2. शुक्लयजुर्वेद–81/52
3. पारस्कर गृह्यसूत्र–1/19/3

का आनन्द ले सकूँ, स्वाहा! अपने श्रवणों के द्वारा यश का उपभोग कर सकूँ। स्वाहा!

इसप्रकार उपर्युक्त मंत्रों से आहुति प्रदान करते समय शिशु के समस्त ज्ञानेन्द्रियों के संतुष्टि के लिये भी स्तुति की जाती है, जिससे वह स्वस्थ एवं प्रसन्नचित्त जीवन व्यतीत कर सके।

इसप्रकार देवों को पक्वान्न की आहुति समर्पित करने के उपरांत ब्रह्मा का अन्वारम्भ करते हुये आहुति दी जाती है तथा स्रुवा का अवशिष्ट घृत प्रोक्षणी में छोड़ते हैं। अब चरू से घृत–सेचन करके स्विष्टकृत अग्नि के निमित्त एक आहुति प्रदान करते हैं। पुनः तीनों महाव्याह्रतियों से आज्याहुति देने के उपरांत एक अन्य आहुति प्रजापति के निमित्त दी जाती है। अन्नप्राशन संस्कार के समस्त आवश्यक कृत्य के सम्पादित हो जाने के उपरांत ब्राह्मणों को भोजन एवं दक्षिणा प्रदान करते हैं। इस कृत्य के अन्तिम एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चरण में शिशु को स्नानोपरांत स्वच्छ वस्त्र धारण कराकर पक्वान्न या पायस का प्राशन कराते समय इस प्रकार मंत्रोच्चारण करतें है–

ॐ अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।

प्रप्रदातारं तारिषऽऊर्जनो धेहि द्विपदे चतुष्पदे।।[1]

इसप्रकार अन्नप्राशन संस्कार के माध्यम से शिशु के शरीर को पुष्टि, शक्ति एवं समृद्धि प्रदान करते हैं। वस्तुतः अन्न से ही मनुष्य का जीवन संचालित होता है।

1 शुक्लयजुर्वेद–11/83

अन्नप्राशन संस्कार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

अन्नप्राशन संस्कार में मातृदुग्ध के उपरांत शिशु को अन्न का प्राशन कराते है, जिससे उसका शारीरिक एवं मानसिक संवर्द्धन होता है। शिशु के जीवन में अन्न का प्रथम प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण अवसर है, क्योंकि शिशु मातृदुग्ध के उपरांत जीवन–पर्यन्त इसी पर निर्भर रहता है। वस्तुतः अन्नप्राशन संस्कार में शिशु को माधूर्ययुक्त पक्वान्न का प्राशन कराके, उसके मस्तिष्क में सुखद–संवेदना, इन्द्रियों के माध्यम से उत्पन्न की जाती है। अन्नप्राशन संस्कार से अन्न की पूर्व संवेदना के आधार पर ,जब शिशु उस अन्न विशेष को पुनः दृष्टिपात् करता है, तो उसे अन्न विशेष का प्रत्यक्षीकरण (Perception) होता है। अन्न के प्रत्यक्षीकरण से शिशु में अन्न के प्रति आकर्षण एवं रूचि उत्पन्न होती है। फलतः शिशु अन्न को अपने जीवन का एक अविभाज्य अंग बना लेता है। अतः यह एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक प्रयोग कहा जा सकता है, जिससे शिशु अन्न के प्रति केन्द्रस्थ होकर जीवन–पर्यन्त इसका सेवन करता है। संवेदना एवं उससे सम्बन्धित प्रत्यक्षीकरण के सिद्धांत को मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है–

"Perception is the process of getting to know of objects and objective facts by use of the Senses."[1]

अन्नप्राशन कृत्य में शिशु को अन्न की ओर उद्दीप्त किया जाता है, जिससे अन्न के प्रति उसमें तीव्र प्रेरणा का संचार हो और उसे वह अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग बना ले। प्रेरणा (Motivation) के विषय में मनोविज्ञान का विचार इस प्रकार है– **"A motive is any particular internal factor or condition that to initiate and to sustain activity."**[2]

इस प्रकार अन्नप्राशन संस्कार में शिशु को अन्न के प्रति आकृष्ट करना, अन्न का ज्ञान कराना तथा अन्न के प्रति प्रेरणा उत्पन्न करना, एक उत्कृष्ट मनोवैज्ञानिक अवधारणा को सूचित करता है।

---

1. Woodwarth & Maiqush, Psychology 1955-P-402
2. J.P. Guilford, General Psychology-1956-P-91

चूड़ाकरण संस्कार

सभ्यता–संस्कृति के विकास के साथ–साथ मनुष्य ने अपने जीवन में सौन्दर्य को भी प्राथमिकता दी है। प्रारम्भिक समय में सिर (मस्तिष्क) को स्वच्छ रखने की अवधारणा थी, जिससे मस्तिष्क पर केशों के अन्तः में ध्यान, प्राणायाम एवं अन्य सात्त्विक साधनाओं के समय खुजली या व्यवधान न हो, इसीलिये केशच्छेदन करने की व्यवस्था की गयी। शिशु के सुकोमल मस्तिष्क में लौह अस्त्र से केशच्छेदन करते समय किसी प्रकार का कष्ट न हो, इसीलिये शिशु, का केशच्छेदन ''चूडाकर्म संस्कार'' के अन्तर्गत विधि–विधान से किया जाता है।

सामान्यतः 'चूड़ा' का अभिप्राय केशगुच्छ या शिखा से है, यह मुण्डित सिर पर रखा जाता है। चूड़ाकरण वह कृत्य है, जिसमें जन्म के उपरांत पहली बार शिशु के शिर का केशच्छेदन करके, उस पर एक केशगुच्छ व्यवस्थित किया जाता है। वस्तुतः यह संस्कार मानव मस्तिष्क को प्रभावशाली एवं सबल बनाने के उद्देश्य से किया जाता है। जीवन के समस्त क्रिया–कलापों में मानव मस्तिष्क की महत्त्वपूर्ण उपयोगिता है, यदि इसमें शोधन नहीं होगा, तो मनुष्य की बुद्धि सीमित एवं अल्प हो जायेगी। पारस्कर[1] एवं वैखानस[2] गृह्यसूत्र के अनुसार चूड़ाकरण संस्कार शिशु के जन्म के उपरांत पहले या तीसरे वर्ष में करना चाहिये। मनु ने चूड़ाकरण के सन्दर्भ में अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया है–

चूड़ाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात्।।[3]

अर्थात् द्विजातियों में (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) सभी का चूड़ाकर्म संस्कार जन्म से प्रथमवर्ष या तृतीय वर्ष में श्रुति के निर्देशानुसार करना चाहिये।

'चूड़ाकरण' संस्कार के सन्दर्भ में आश्वलायन गृह्यसूत्र का कथन इसप्रकार है–

''तेन ते आयुषे वपामि सुश्लोकाय स्वस्तये।''[1]

---

1 पारस्कर गृह्यसूत्र-2/1
2. वैखानस गृह्यसूत्र-3/23
3. मनुस्मृति–2/35

अर्थात् इस संस्कार (चूड़ाकर्म) का प्रयोजन दीर्घायु ,सौन्दर्य एवं कल्याण से सम्बद्ध था। ''चूड़ाकर्म से दीर्घायु की प्राप्ति होती है, इसे न करने से आयु का क्षरण भी होता है, अतः प्रत्येक स्थिति में इसे अवश्य करें।[2]

चूड़ाकरण संस्कार के विषय में सुश्रुत का कथन इस प्रकार है–

पापोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम्।

हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम्।।[3]

अर्थात्, केश, नख तथा रोम अथवा केशों के अपमार्जन से हर्ष, लाघव, सौभाग्य एवं उत्साह की वृद्धि तथा पाप का उपशमन होता है।

इस प्रकार चूड़ाकर्म संस्कार चिकित्सकीय दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण संस्कार है।

चूड़ाकरण संस्कार प्रक्रिया

इस कृत्य को सम्पादित करने के लिये एक शुभ तिथि, नक्षत्र एवं समय निर्धारित कर लिया जाता है। चूडाकरण के लिये तिथि–निर्धारण का विचार इस प्रकार है–

पापग्रहाणां वारादौ विप्राणां शुभदं रवेः।

क्षत्रियाणां क्षमासूनोर्विट्शूद्राणां शनौशुभम्।।[4]

चूड़ाकरण प्रारम्भ करने के पूर्व संकल्प कर लिया जाता है। इसके उपरांत गणेश पूजन, मंगल–श्राद्ध इत्यादि आवश्यक कृत्य सम्पन्न किया जाता है एवं ब्राह्मणों को सत्कार पूर्वक भोजन कराया जाता है। अब माता शिशु को सावधानी पूर्वक पकड़कर मंगलद्रव्य से स्नान कराती है, शिशु को नवीन वस्त्र से ढक देती है एवं उसे अपने अंक में लेकर यज्ञीय अग्नि के पश्चिम दिशा में बैठ

---

1. आश्वलायन गृह्यसूत्र–1/17/12
2. वशिष्ठ, वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश भाग–1–पृ0 296
3. सुश्रुत–चिकित्सास्थान, 24/72
4. बृहस्पति, गदाधर द्वारा, पारस्कर, गृह्यसूत्र-2/1/4

जाती है। अब पिता शिशु को स्पर्श करते हुये घृत की आहुतियाँ देता है एवं यज्ञावशिष्ट भोज्य–पदार्थ को ग्रहण कर लेने के उपरांत उष्णजल को शीतल जल में गिराते हुये इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

"ॐ उष्णेन वायवुदकेनेह्यदितिः केशान्वपतु।"[1]

अर्थात् उष्ण जल के साथ यहाँ आओ, वायु! अदिति! केशों का छेदन करो। अब पूर्वाभिमुख शिशु के सिर पर दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में तीनों ओर केशों के तीन जूड़े बाँधे जाते हैं, इनमे से प्रथम दक्षिण जूड़े को घृत अथवा दधि एवं जल मिश्रित करके भिगोता (स्नान कराता) है। केशों को मिश्रित–द्रव्य से भिगोने का कृत्य करते समय इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

"आप उन्दन्तु जीवसे दीर्घायुत्वाय वर्चसे"।[2]

इसप्रकार उपर्युक्त मंत्र में जल से शिशु के केश को भिगोते हुये उसके दीर्घायुष्य एवं बलवृद्धि के निमित्त प्रार्थना की गयी है।

कृत्य के अग्रिम क्रम में अब शल्यक के काँटे से केशों को विकीर्ण करता है। तीन कुश के द्वारा शिशु के अग्रभाग के केशों के तीन भागों मे से प्रथम भाग के मूल में लगाते हुये इस मंत्र का उच्चारण करता है–

"ॐ ओषधे त्रायस्वैनम्"।[3]

अर्थात् हे कुश! शिशु की रक्षा कर, उसे कष्ट न पहुँचा। अब छुरे को हाथ में पकड़ते हुये इस प्रकार मंत्र का उच्चारण करता है–"स्वधिते मैनं हिंसरि ति"।।[4]

इस कृत्य में अब यजमान शिशु के तीनों केश गुच्छ को पुरोहित के निर्देशानुसार तीन बार में काटता है। शिशु के प्रथम केशच्छेदन में इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरूणस्य विद्वान्।
तेन ब्राह्मणो वपतेदमस्यायुष्मान् जरदष्टिर्यथासत्।।[5]

---

1. बौधायन गृह्यसूत्र–2/4/8
2 बौधायन गृह्यसूत्र–2/4/9
3. बौधायन गृह्यसूत्र–2/4/10
4. बौधायन गृह्यसूत्र–2/4/11
5. आश्वलायन गृह्यमंत्र व्याख्या– अ0–1–हरिदत्त–पृ0 47–48

द्वितीय केशच्छेदन में इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

येन धाता बृहस्पतेरग्नेरिन्द्रस्य चायुषेऽवपत्।
तेन ते आयुषे वपामि सुश्लोकाय स्वस्तये।।[1]

तृतीय केशच्छेदन में इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

येन भूयश्च रात्र्यां ज्योक् च पश्याति सूर्यम।
तेन ते आयुषे वपामि सुश्लोकाय स्वस्तये।।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त मंत्रों के द्वारा शिशु के केशच्छेदन के अवसर पर उसके बलवृद्धि, स्वर्ग–प्राप्ति, दीर्घायु ,सूर्य–दर्शन, आयुष्य–सत्ता, यश–वृद्धि एवं कल्याण के निमित्त प्रार्थना की जाती है।

अब शिशु के तीनों केश–गुच्छों के केशच्छेदन के उपरांत उसके समस्त केशों को एक गोबर–पिण्ड पर रख देते हैं।

अब उस क्षुरे से प्रार्थना व्यक्त की जाती है, जिससे शिशु के केशच्छेदन में किसी प्रकार का कष्ट उत्पन्न न हो। क्षुरे से शिशु के केशच्छेदन में कष्ट न उत्पन्न हो उसके निमित्त इस प्रकार मंत्रोच्चारण किया जाता है–

यत् क्षुरेण मर्चयता सुपेशसा वप्ता वपसि केशान्।
शुन्धि शिरो मास्यायुः प्रमोषीः।।[3]

अब यजमान क्षुरे की प्रार्थना करने के उपरांत उसे नापित के हाथ में दे देता है। अब शिशु के मुण्डन कार्य को सम्पन्न करने के पूर्व नापित के द्वारा शिशु के केशों को शीतल एवं उष्ण जल से आर्द्र करते हुये इस प्रकार मंत्रोच्चारण करते हैं– "शीतोष्णाभिरद्भिरबर्थे कुर्वाणोऽक्षण्वन् कुशली केशान् कुरू" [4]।

अब यजमान नापित को शिशु के अवशिष्ट केशों को काटने (केशच्छेदन) की आज्ञा देता है–

---

1. आश्वलायन गृह्यमंत्र व्याख्या– अ0–1–हरिदत्त--पृ0 47–48
2. आश्वलायन गृह्यमंत्र व्याख्या– अ0–1–हरिदत्त - पृ0 47–48
3. आश्वलायन गृह्यमंत्र व्याख्या अ0 1–हरिदत्त--पृ0 48
4. आश्वलायन गृह्यमंत्र व्याख्या–अ0 1–हरिदत्त पृष्ठ- 48

अब नापित शिशु के अवशिष्ट केशों को व्यवस्थित विधि से स्वच्छ करके केशच्छेदन कर देता है। जब पूर्णतः केशच्छेदन हो जाये तो माता केशों को एक नवीन वस्त्र में आवृत करके दुग्ध के साथ गोबर–पिण्ड पर रख देती है। अब पूर्णाहुति इस प्रकार मंत्रोच्चारण के साथ समर्पित की जाती है–

ॐ मूर्धानं दिवोऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽआजातमग्निम्।
कवि॑ꣳसम्राजमतिथिं जनानामासन्नापात्रं जनयन्त देवाः।।[1]

उपर्युक्त मंत्र से पूर्णाहुति देने के उपरांत यजमान वेदी के भस्म को ग्रहण करके अनामिका से क्रमशः मस्तक, कण्ठ, दक्षिण भुजा एवं हृदय में लगाते हुये इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

ॐ त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्।।[2]

इस कृत्य में यजमान स्वयं भस्म को विभिन्न स्थानों में स्पर्श कर लेने के उपरांत शिशु को भी भस्म उन्हीं स्थानों पर उसी मंत्र से स्पर्श कराता है, किन्तु मंत्र में 'तन्नो' के स्थान पर 'तत्ते' शब्द के प्रयोग का विधान है। कृत्य के समापन में यजमान गोबर–पिण्ड के साथ केशों को किसी जलाशय या नदी में विसर्जित कर देता है तथा ब्राह्मणों को भोजन कराकर, आचार्य एवं नापित को उपयुक्त दक्षिणा समर्पित करता हुआ उनसे आशीर्वाद प्राप्त करता है। इस प्रकार शिशु को बल, बुद्धि एवं दीर्घाष्यु प्रदान करने वाला 'चूड़ाकरण' संस्कार सम्पादित किया जाता है।

---

1. शुक्लयजुर्वेद–7/24
2. शुक्लयजुर्वेद–3/62

चूड़ाकरण संस्कार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

चूड़ाकरण संस्कार में शिशु के सिर का केशच्छेदन करके एक शिखा व्यवस्थित कर देते हैं। केशच्छेदन से शिशु का मस्तिष्क स्वच्छ एवं कीटरहित हो जाता है, जिससे उसके अन्तःकरण में लाघव–वृत्ति एवं स्फूर्ति की अनुभूति उत्पन्न होती है। इस सन्दर्भ में सुश्रुत का विचार अनुकरणीय है–"

पापोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम्।
हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम्।।[1]

सुश्रुत के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि चूड़ाकरण संस्कार शिशु को उत्तम मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है, जिससे उसके अन्तःकरण में सद्वृत्ति उत्पन्न होती है।

मानसिक स्वास्थ्य के विषय में मनोविज्ञान का सिद्धान्त भी विचारणीय है–

"Mental Hygiene is "concerned with the maintenance of mental health and prevention of mental disorders."[2]

वस्तुतः शिशु का चूड़ाकर्म करने से उसका मस्तिष्क प्रायः स्वच्छ रहता है, उसमें कीटादि रहने के कारण खुजली (itching) होने की सम्भावना का निराकरण हो जाता है। यदि शिशु के केशों के अंतः में कोई कष्ट हो, तो शिशु के पास भाषा शक्ति न होने के कारण, वह अपने कष्ट को पूर्णतयः स्पष्ट नहीं कर पायेगा, जिसके कारण वह मनोरोग से ग्रस्त हो सकता है। अतः मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य के दृष्टि से 'चूड़ाकरण' एक महत्त्वपूर्ण कृत्य है। चूड़ाकर्म संस्कार में सम्पन्न होने वाले कृत्य के साथ मंत्रोच्चारण शिशु में भावात्मक अनुभव (Emotional experience or Effective experience) का संचार करता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी 'भावात्मक अनुभव' (Effective Experience) को मानव मस्तिष्क की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता के रूप में स्वीकार करता है।[3]

---

1. सुश्रुत चिकित्सास्थान–24/72
2 Headfield -Mental Health & Psychoneurosis (शिक्षा मनोविज्ञान- डा० एस० एस० माथुर पृ० 3/5)
3. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश–निर्मला शेरजंग

कर्णवेध संस्कार

मानव सभ्यता–संस्कृति के विकास के साथ–साथ सौन्दर्य एवं अलंकरण के विविध आभूषणों की संरचना भी हुयी है। प्रारम्भ में मनुष्य अलंकरण के दृष्टि से ही कर्णाभूषण के निमित्त कर्णवेध करवाता था, किन्तु कालान्तर में कर्णवेध ने एक स्वतंत्र संस्कार का रूप ले लिया। यह संस्कार शिशु के श्रवण–शक्ति के विकास एवं उसके अन्तःकरण में आत्मविश्वास के अभिवृद्धि का सूचक है।

कर्णवेध के विषय में सुश्रुत का कथन इस प्रकार है–

"रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येत्।"[1]

अर्थात् रूग्णता आदि से रक्षा एवं अलंकरण के लिये शिशु का कर्णवेध करना चाहिये। विशिष्ट अंगों में रूग्णता उत्पन्न होने से प्रतिरक्षा हेतु सुश्रुत का कथन इस प्रकार है–

शङ्खोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम्।
व्यत्यासाद्वा शिरां विध्येदन्त्रवृद्धिनिवृत्तये"।।[2]

अर्थात् अण्डकोश वृद्धि तथा अन्त्रवृद्धि के निरोध के लिये सुश्रुत पुनः कर्णवेध का विधान करते हैं।

इस प्रकार चिकित्सकीय दृष्टि से यह संस्कार शिशु को रूग्णता से संरक्षण प्रदान करता है एवं उसके स्वास्थ्य की अभिवृद्धि में सहायक है।

कर्णवेध संस्कार को सम्पादित करने के उचित समय के सन्दर्भ में श्रीपति का कथन इस प्रकार है–

शिशोरजातदन्तस्य मातुरूत्संगसर्पिणः।
सौचिको वेधयेत्कर्णौ सूच्या द्विगुणसूत्रया।।[3]

अर्थात् शिशु के दंत के प्रादुर्भूत होने के पूर्व एवं जब शिशु माता के अङ्क में क्रीडा करता हो, तब कर्णवेध संस्कार सम्पन्न करना चाहिये।

---

1. सुश्रुत–शरीरस्थान–16/1
2. सुश्रुत–शरीरस्थान–19/21
3. श्रीपति–वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश–भाग–1–पृष्ठ सं० 261

कर्णवेध के सन्दर्भ में बृहस्पति का कथन इस प्रकार है–

"जन्मतो दशमे वाह्नि द्वादशे वाऽथ षोडशे।"[1]

अर्थात् शिशु के जन्म के पश्चात् दसवें, बारहवें अथवा सोलहवें दिन कर्णवेध किया जाता है। कात्यायन सूत्र शिशु के कर्णवेध संस्कार का उपयुक्त समय शिशु के जन्म के पश्चात् तृतीय अथवा पंचम वर्ष में स्वीकार करता है।[2]

कर्णवेध हेतु स्वर्णमयी सूची (सुई) उत्तम स्वीकार की जाती है, परन्तु बृहस्पति ने सामर्थ्यानुसार अन्य सूची का भी विधान किया है–

शातकुम्भमयी सूची वेधने शोभनप्रदा।
राजती वाऽयसी वाऽपि यथा विभवतः शुभा।।[3]

कर्णवेध संस्कार प्रक्रिया

इस कृत्य में यजमान पवित्र जल से स्नानादि करके स्वच्छ वस्त्र धारण करता है। यजमान कर्णवेध संस्कार का संकल्प करने के उपरांत गणपति पूजन, सरस्वती, ब्रह्मा, शंकर, नवग्रह, लोकपाल एवं अपने कुलदेवता का ध्यान करता है अब ब्राह्मणों का सम्यक् अभिवादन करके, स्नानादि से निवृत्त शिशु को पूर्वाभिमुख बैठाकर उसके हस्त में मिष्ठान देता है। कर्णवेध के प्रारम्भिक कृत्य के उपरांत अब शिशु के दक्षिण कर्णछेदन में इस प्रकार वैदिक मंत्र का उच्चारण किया जाता है–

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांꣳसस्तनू–भिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।।[4]

अब शिशु के दक्षिण कर्ण के उपरांत वाम कर्णछेदन में इस प्रकार मंत्रोच्चारण करते हैं–

ॐ वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियꣳ सखायं परिषस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयꣳ समने पारयन्ती।।[5]

---

1 बृहस्पति वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश–भाग–1– पृष्ठ स0 258
2. पारस्कर गृह्यसूत्र परिशिष्ट–1
3. बृहस्पति, वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश में उद्धृत
4. ऋग्वेद–1/89/1
5. शुक्लयजुर्वेद–29/40

सुश्रुत सूत्र में कर्णछेदन कृत्य के विषय में ऐसा कथन है–

"वामहस्तेनाकृष्य कर्णं दैवकृत छिद्रे आदित्यकरावभासिते। शनैः–शनैः दक्षिण हस्तेन ऋजु विध्येते।।"[1]

अर्थात् वामहस्त से पकड़ कर कान के निचले भाग के मध्य में, गण्डभाग की ओर कुछ पाली को झुकाते हुये, पतली झिल्ली से ढके हुये, सूर्यकिरण जिसमें दृष्टिगत् हो, ऐसे स्थल पर कर्णवेध करें। कर्णवेध संस्कार के समापन के अवसर पर शिशु का पिता (यजमान) ब्राह्मणों को भोजन एवं समुचित दक्षिणा प्रदान करके शिशु के साथ उनका पवित्र आशीर्वाद प्राप्त करता है। अन्ततोगत्त्वा इस कृत्य में सम्मिलित हुये अतिथियों एवं सम्बन्धियों के भोजन एवं सत्कार के साथ कर्णवेध संस्कार सम्पन्न होता है।

इस प्रकार षोडश संस्कार पद्धति के अन्तर्गत कर्णवेध एक आवश्यक संस्कार है। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार "जिसका कर्णवेध न हो, उसे श्राद्ध में आमन्त्रित नही करना चाहिये, अन्यथा आमन्त्रित करने वाला असुर हो जाता है।"[2]

---

1. सुश्रुत सूत्रस्थान–16/3
2. पारस्कर गृह्यसूत्र–परिशिष्ट कर्णवेधसुर–1–2

कर्णवेध संस्कार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

कर्णवेध संस्कार में शिशु के कर्णों में सूचिका से भेदकर एक छिद्र बनाया जाता है, जिसमें वह आभूषण धारण करता है। कर्णवेध संस्कार के माध्यम से शिशु का अलंकरण किया जाता है। सुश्रुत के अनुसार रूग्णता आदि से प्रतिरक्षा एवं अलंकरण के लिये शिशु का कर्णछेदन करना चाहिये। वस्तुतः कर्णछेदन संस्कार के माध्यम से शिशु में श्रवण–शक्ति का विकास किया जाता है, क्योंकि कर्णछेदन संस्कार के समय मंत्रोच्चारण के साथ सम्पादित किये जाने वाले कृत्य से शिशु के कर्णों में श्रवण–क्रिया के प्रति संवेदनशीलता विकसित की जाती है। प्रकृति में श्रवण–शक्ति का महत्त्वपूर्ण योगदान है। श्रवण–शक्ति से शत्रुओं, एवं जीव–जन्तुओं के ध्वनि का श्रवण करके व्यक्ति अपने आत्मरक्षा के प्रति सचेत हो सकता है। वेद एवं उससे सम्बद्ध विषयों का अध्ययन श्रवण–शक्ति से ही करते हैं। इस कृत्य से निःसन्देह शिशु के श्रवण–क्रिया की संवेदनशीलता में अभिवृद्धि होती है। मनोविज्ञान के अनुसार "किसी उद्दीपक के प्रारम्भिक आभास को संवेदना कहते हैं"।[1] श्रवण–शक्ति से विविध–तथ्यों की संवेदना के आधार पर ही शिशु विषयों का पुनः श्रवण करके विषय–विशेष के प्रत्यक्षीकरण (Perception) की अनुभूति करता है। प्रत्यक्षीकरण (Perception) के विषय में आधुनिक मनोविज्ञान का दृष्टिकोण इस प्रकार है–

"When some sensations carry the more or less definite references to an object that is known as perception."[2]

कर्णवेध संस्कार के उपरांत कर्णों में कुण्डल इत्यादि धारण कराने से शिशु में सौन्दर्यानुभूति **(Aesthetic sense)** उत्पन्न होती है, जिससे उसमें आत्मविश्वास की अभिवृद्धि होती है और उसके व्यक्तित्त्व एवं मस्तिष्क का समुचित उन्नयन होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि कर्णवेध संस्कार शिशु को वर्तमान के साथ–साथ भविष्य में प्रभावशाली व्यक्तित्त्व एवं उत्तम मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है। मानसिक स्वास्थ्य के विषय में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक हेडफिल्ड का कथन इस प्रकार है–

"In General terms we may say that mental health is the harmonious functioning the whole personality."[3]

---

1. सामान्य मनोविज्ञान–जयनारायण सुमन, पृष्ठ–141
2. Jalota, A Text of Psychology, 1952 p-169
3. शिक्षामनोविज्ञान–डा0 एस0 एस0 माथुर–पृ0–375

विद्यारम्भ संस्कार

बालक सामाजिक परिवेश में रहता हुआ शनैः–शनैः अनुभव प्राप्त करता है, जिससे उसकी मस्तिष्कीय अभिवृद्धि होती है। अनुभव ग्रहण करने के साथ–साथ बालक को विद्यारम्भ अथवा अक्षर–ज्ञान प्राप्त करना भी प्रारम्भ कर देना चाहिये। विश्वामित्र के अनुसार "विद्यारम्भ संस्कार बालक के पाँचवें वर्ष की आयु में ही प्रारम्भ कर देना चाहिये"।[1] पण्डित भीमसेन शर्मा द्वारा रचित षोडश संस्कार विधि में उद्धृत एक अज्ञातनाम स्मृतिकार के अनुसार "यह संस्कार पाँचवे या सातवें वर्ष में किया जा सकता था"।[2]

इस संस्कार को प्रारम्भ करने के लिय सूर्य के उत्तरायण होने पर कोई एक शुभ दिन सुनिश्चित कर लिया जाता था।[3] इस कृत्य में सर्वप्रथम बालक को स्नानोपरांत सुगंधित पदार्थों को लगाकर उसका पूर्ण अलंकरण तथा विनायक, सरस्वती, बृहस्पति एवं गृहदेवता की आराधना की जाती है। विष्णु–लक्ष्मी पूजन एवं वेद तथा वैदिक सूत्रकारों के प्रति समादर–भाव प्रकट करते हुये होमादि कृत्य सम्पादित किया जाता है। विद्यारम्भ संस्कार के सभी प्रारम्भिक व्यवस्था के उपरांत आचार्य पूर्वाभिमुख होकर, पश्चिमाभिमुख बालक को अक्षर का ज्ञान कराता है। रजतफलक पर केशर तथा अन्य द्रव्य भली–भाँति फैलाकर स्वर्णलेखनी से उस पर अक्षर लिखा जाता है। सामान्य परिवारों के लिये भी विशेष प्रकार से निर्मित की गयी लेखनी से अक्षत पर अक्षर लिखा जाता है। अक्षर के लेखन क्रम में प्रायः श्री गणेशाय नमः, सरस्वत्यै नमः, गृहदेवताभ्यो नमः, लक्ष्मीनारायणाभ्यां नमः, इत्यादि के आध्यात्मिक वाक्य लिखे जाते हैं। लेखन के अन्तिम क्रम में 'ॐ नमः सिद्धाय' का भी लेखन किया जाता है। कृत्य के समापन में बालक गुरू की अर्चना करते हुये समादर–भाव व्यक्त करता है। आचार्य बालक को लिखित अक्षरों एवं उपर्युक्त वाक्यों का तीन बार ज्ञान कराता है। अक्षर ज्ञान के उपरांत बालक, आचार्य को वस्त्राभूषण इत्यादि उपहार स्वरूप अर्थात् दक्षिणा देता है। कृत्य के समापन में बालक देवताओं की क्रमशः तीन बार प्रदक्षिणा करता है। इस प्रकार विद्यारम्भ संस्कार के माध्यम से आचार्य बालक के मानस–पटल पर अक्षर ज्ञान का संस्कार या अक्षर ज्ञान की संवेदना उत्पन्न करते हैं।

---

1. विश्वामित्र, वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश–पृष्ठ–321
2. पञ्चमे सप्तमे वाडब्दे। पडित भीमसेन शर्मा–षोडश संस्कार विधि
3. वशिष्ठ–वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश–भाग–1–पृष्ठ सख्या–321

विद्यारम्भ संस्कार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

बालक को अक्षर का प्रारम्भिक ज्ञान प्रदान करना ही विद्यारम्भ संस्कार कहा जात है। विद्यारम्भ संस्कार के माध्यम से बालक में अधिगम (Learning) की शक्ति विकसित की जाती है। बालक के जीवन में अधिगम का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। अधिगम (Learning) को मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है। प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक वुडवर्थ एवं मारक्विस् का अधिगम (Learning) के विषय में इस प्रकार का कथन है–

"Learning Consists to in doing something new, provided this something new is retained by the individual and reappears in his later activities."[1]

विद्यारम्भ संस्कार में बालक को प्रारम्भिक अक्षर का ज्ञान कराया जाता है। व्यवहारिक जीवन में अक्षर–ज्ञान के नित्य प्रयोग से बालक का मस्तिष्क सबल एवं सुदृढ़ होता है। प्रायः बालक के जीवन में सीखने की प्रक्रिया अनुकरण के द्वारा होती है, इसे मनोविज्ञान में "**Imitation process**" कहा जाता है।

विद्यारम्भ संस्कार के माध्यम से बालक में विद्या की पूर्वपृष्ठभूमि निर्मित की जाती है अर्थात् विद्या की संवेदना (Sensation) उत्पन्न की जाती है। इस संवेदना की आधार पर वृहद् ज्ञानराशि को देखते ही बालक को विद्या का प्रत्यक्षीकरण (Perception) होता है। मनोविज्ञान भी संवेदना के उपरांत प्रत्यक्षीकरण को क्रमिक प्रक्रिया के रूप में स्वीकृति प्रदान करता है। इस सन्दर्भ में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक जलोटा का कथन इस प्रकार है–

"When some sensations carry the more or less definite references to an object that is known as perception."[2]

विद्यारम्भ संस्कार में आचार्य, बालक को सर्वप्रथम देवी–देवताओं के नाम का परिचय कराते हैं। वस्तुतः देवी–देवताओं के नाम शुभ एवं सुखद होते हैं, ये बालक में सद्वृत्ति को विकसित करने में पूर्णतः सहायता प्रदान करते हैं।

---

1. Woodwarth & Marquish', Psychology-P.491
2. Jalota, A Text of Psychology, 1952, P. 169.

उपनयन संस्कार

उपनयन शब्द का शाब्दिक अर्थ है, 'समीप या निकट ले जाना'। सामान्यतः प्रारम्भिक काल में इसका अर्थ शिष्य को गुरू के समीप ले जाने से सम्बद्ध था। ऋग्वेद में 'ब्रह्मचारी' शब्द का वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है–

ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येकमंगम्।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः।।[1]

ब्राह्मण ग्रन्थों में उपनयन संस्कार का स्पष्ट वर्णन प्राप्त नही होता है, परन्तु गोपथ ब्राह्मण में ब्रह्मचारी के महात्म्य का सुस्पष्ट वर्णन किया गया है–

ॐ ब्रह्मचारीष्णांश्चरति रोदसी उभे इत्याचार्य्यमाह। तस्मिन देवाः सम्मनसो भवन्तीति।[2]

गोपथ ब्राह्मण में मौद्गल्य एवं मैत्रेयी के द्वारा गायत्री मंत्र या सावित्री के विषय में वार्तालाभ प्राप्त होता है–"स होवाचैतदेवात्रात्विषञ्चानृशंस्यञ्च यथा भावनाहोपायामित्येवं भवन्तमिति तं होपेयाय तं होपेत्य पप्रच्छ किंस्विदाहुर्भोः सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयः किमाहुर्धियो विचक्ष्व यदि ताः प्रविश्य प्रचोदयात्सविता याभिरेतीति। तस्मा एतत् प्रोवाच वेदाश्छन्दांसि सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयोऽन्नमाहुः। कर्माणि धियस्तदु ते ब्रबीमि प्रचोदयात्सविता याभिरेतीति"।[3]

इस प्रकार सावित्री या गायत्री के महात्म्य का स्पष्ट निदर्शन ब्राह्मण ग्रन्थ में प्राप्त होता है। कालान्तर में 'सावित्री' ने सूत्रग्रन्थों में उपनयन संस्कार के अन्तर्गत व्यापक रूप धारण कर लिया। उपनयन शब्द को दो प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

"तत्रोपनयनशब्दः कर्मनामधेयम्। तच्च यौगिकम् उद्भिद्न्यायात्। योगश्च भावव्युत्पत्त्या करणव्युत्पत्त्या वेत्याह भारूचिः। स यथा–उपसमीपे आचार्यादीनां बटोर्नयनं प्रापणमुपनयनम्। समीपे आचार्यादीनां नीयते बटुर्येन तदुपनयनमिति वा"।[4]

---

1. ऋग्वेद–10/109/5
2. गोपथ ब्राह्मण–द्वितीय प्रपाठक–कण्डिका–1
3. गोपथ ब्राह्मण–प्रथम प्रपाठक कण्डिका–32
4. संस्कार प्रकाश–पृष्ठसं०–334

अर्थात् प्रथम बालक को आचार्य के निकट ले जाना एवं द्वितीय वह संस्कार जिसके माध्यम से बालक आचार्य के समीप ले जाया जाता है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार "उपनयन संस्कार उस व्यक्ति (बालक) के लिये किया जाता है, जो विद्या सीखना चाहता है एवं उस विद्या सीखने वाले को गायत्री मंत्र सिखा कर संस्कार किया जाता है"[1]। ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार उसका द्वितीय जन्म स्वीकार किया जाता है, ऐसा वर्णन अथर्ववेद में प्राप्त होता है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।।[2]

अर्थात् आचार्य उपनयन करता हुआ, ब्रह्मचारी को गर्भ में धारण करता है, वह तीन रात्रि—पर्यन्त उसे उदर में रखता है। जब वह जन्म ग्रहण करता है, तो देवगण उस ब्रह्मचारी को देखने के निमित्त उपस्थित होते हैं।

उपनयन का प्रयोजन

सामान्यतः गुरू के समीप जाकर गुह्य—ज्ञान प्राप्त करना ही उपनयन संस्कार का मुख्य प्रयोजन है। इस सन्दर्भ में वशिष्ठ का कथन इस प्रकार है—

यच्छाखीयैस्तु संस्कारैः संस्कृतो ब्राह्मणो भवेत्।
तच्छाखाध्ययनं कार्यमेवं न पतितो भवेत्।[3]

अर्थात् उपनयन मात्र शिष्य को गुरू के समीप ले जाने से ही सम्पन्न नहीं होता था, प्रत्युत् वेद की किसी भी शाखा का अध्ययन आरम्भ करते समय पुनः—पुनः इसका अनुष्ठान करना पड़ता था।

1 आपस्तम्ब धर्मसूत्र—1/1/1/19
2. अथर्ववेद—11/5/3
3. वशिष्ठ—वीर मित्रोदय संस्कार प्रकाश—337

उपनयन संस्कार के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य का कथन इस प्रकार है–

उपनीय गुरूः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्।।[1]

अर्थात् उपनयन का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन वेदाध्ययन करना है। महाव्याहृतियों से शिष्य का उपनयन सम्पन्न करके, गुरू को उसे वेद, आचार एवं शील की शिक्षा देनी चाहिये। वस्तुतः उपनयन संस्कार के उपरांत ही बालक का ज्ञान–चक्षु जागृत होता है। उपनयन संस्कार से युक्त बालक ही वेदाध्ययन करने में सक्षम होता है।

उपनयन की आयु

बालक के उपनयन की आयु के सन्दर्भ में आश्वलायन गृह्यसूत्र का कथन इस प्रकार है–

अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्। गर्भाष्टमेवा। एकादशे क्षत्रियम्। द्वादशे वैश्यम्। आ षोडशाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः। आ द्वाविंशात्क्षत्रियस्य। आ चतुर्विंशाद्वैश्यस्य''।[2]

अर्थात् ब्राह्मण बालक का उपनयन गर्भाधान या जन्मोपरांत अष्टम वर्ष में, क्षत्रिय का एकादश वर्ष में एवं वैश्य का द्वादश वर्ष में करना चाहिये। यदि उपनयन संस्कार प्रारम्भिक आयु में न सम्पन्न हो, तो विकल्प में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य का क्रमशः 16, 22 एवं 24 वर्ष में भी किया जा सकता है।

व्रात्य

उपनयन संस्कार निर्धारित समय में सम्पादित न होने पर बालक व्रात्य अर्थात् अपवित्र समझा जाता है। व्रात्य के सन्दर्भ में मनु का कथन इस प्रकार है–

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्री पतिता व्रात्यामवन्त्यार्यविगर्हिताः।।[3]

अर्थात् यदि किसी व्यक्ति का उपनयन निर्धारित समय के उपरांत भी न हो तो, वह व्रात्य, सावित्री से पतित एवं आर्यसमाज से तिरस्कृत हो जाता है।

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति–1/15
2. आश्वलायन गृह्यसूत्र–1/19/1–6
3. मनुस्मृति–2/39

उपनयन संस्कार को सम्पादित करने के निमित्त सामान्यतः बालक के पिता, भ्राता एवं ज्येष्ठ अग्रज ही उसको आचार्य के समीप ले जाते हैं।

संस्कार के निमित्त आचार्य के चयन के विषय में शौनक का कथन इस प्रकार है—

कुमारस्योपनयनं श्रुताभिजनवृत्तवान्।
तपसा धूतनिःशेषपाप्मा कुर्याद् द्विजोत्तमः।।[1]

अर्थात् बालक के उपनयन संस्कार के निमित्त श्रुतवान, अभिजात, चरित्रवान् एवं तपःपूत आचार्य का वरण करना चाहिये।

उपनयन संस्कार प्रक्रिया

उपनयन संस्कार के निमित्त सर्वप्रथम किसी शुभ तिथि का निर्धारण कर लिया जाता है। गृह्यसूत्र के अनुसार सामान्यतः "सूर्य के उत्तरायण होने पर उपनयन संस्कार होता था"।[2] वैश्य बालकों का उपनयन सूर्य के दक्षिणायन होने पर ही होता था।[3] इसी क्रम में अलग–अलग वर्णों के लिये ऋतुओं के अनुसार भी व्यवस्था थी। बौधायन गृह्यसूत्र उपनयन संस्कार के निमित्त भिन्न–भिन्न ऋतुओं का प्रावधान इस प्रकार करता है—

"वसन्ते ब्राह्मणमुपनयति ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यं वर्षासु रथकारमिति।"[4]

प्रायः उपनयन संस्कार शुक्लपक्ष में सम्पादित किया जाता है। उपनयन संस्कार के प्रारम्भ में "उपनयन मण्डप" निर्मित किया जाता है। विभिन्न प्रकार के पौराणिक कृत्यों का आयोजन 'उपनयन' के एक दिन पूर्व में ही होता है।

---

1. शौनक–वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश–भग–1–पृष्ठ–408
2. पारस्कर गृह्यसूत्र–2/2
3. बृहस्पति, वीरमित्रोदय सस्कार प्रकाश–1–पृ0 345
4. बौधायन गृह्यसूत्र–11/5/6

इस कृत्य में गणेश , श्री, लक्ष्मी, धात्री, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा एवं सरस्वती आदि विभिन्न देवी–देवताओं का सम्यक् पूजन होता है। उपनयन के पूर्व–रात्रि में बालक के शरीर पर हरिद्र–द्रव्य का लेपन करके उसकी शिखा से एक चॉदी की अंगूठी (मुद्रिका) बॉध देते है। इसके उपरांत बालक रात्रि–पर्यन्त मौन धारण करता है। यह कर्मकाण्डीय विधि बालक के द्वितीय जन्म का प्रतीक है। पीतलेपन गर्भगृह का प्रतीक एवं 'मौन' गर्भ में मौन भ्रूण का प्रतीक होता है। द्वितीय दिवस पर प्रातःकाल माता बालक के साथ अंतिम बार भोजन ग्रहण करती है। डा0 अल्तेकर के अनुसार "यह बालक के अनियमित जीवन के अन्त का सूचक है तथा बालक को स्मरण कराता है कि अब वह दायित्वहीन शिशु नही रहा, अब उसे व्यवस्थित जीवन प्रारम्भ करना है"।[1]

माता एवं पुत्र के सहभोज के उपरांत बालक के माता–पिता उसे आहवनीय अग्नि के समीप मण्डप में ले जाते हैं। यदि विद्यार्थी का चूडाकरण शिशु काल में सम्पादित नही होता था, तो उपनयन के साथ–साथ उसका चूड़ाकरण भी किया जाता है। 'चूडाकरण' सम्पन्न हुये बालक का नापित के द्वारा साधारण मुण्डन होता है। अब मुण्डनोपरांत बालक को पवित्र जल में स्नान कराते हैं।

कौपीन

स्नान क्रिया सम्पादित हो जाने के उपरांत बालक के गुह्य–शरीर भाग को आवृत करने के लिये कौपीन उपलब्ध कराते हैं। अब विद्यार्थी में शिष्टाचार, शीलता एवं आत्मसम्मान का होना आवश्यक है। बालक आचार्य के सम्मुख जाकर ब्रह्मचारी होने की भावना प्रकट करता है। बालक आचार्य को कहता है–"मैं यहॉ ब्रह्मचर्य के निमित्त आया हूँ। मैं ब्रह्मचारी बनूँगा"।[2] बालक की

1. एजुकेशन इन एसिऐण्ट इडिया–1–पृष्ठ-19
2. पारस्कर गृह्यसूत्र–2/2/9

प्रार्थना स्वीकार करके आचार्य उसे वस्त्र प्रदान करते हुये इस प्रकार मंत्र का उच्चारण करते हैं–

ऊँ येनेद्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम्।
तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे।।[1]

अर्थात् जिस प्रकार बृहस्पति ने इन्द्र को अमृतत्त्व का वस्त्र दिया। उसी प्रकार मै दीर्घायुष्य, दीर्घजीवन, शक्ति, तेज एवं ऐश्वर्य के लिये यह वस्त्र तुझे देता हूँ।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार "ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य ब्रह्मचारी के निमित्त क्रमशः पटुआ के सूत का, सन के सूत का एवं मृगचर्म का वस्त्र होता है"।[2] इस प्रकार ब्रह्मचारी के वर्णभेद के अनुसार कौपीन (वस्त्र) प्रदान किया जाता है।

मेखला

ब्रह्मचारी बालक कौपीन प्राप्त करने के उपरांत शरीर के कटि भाग में मेखला धारण करता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य ब्रह्मचारी बालक के निमित्त भिन्न–भिन्न मेखला होती है। ब्राह्मण को मूँज की मेखला, जिसमें तीन लड़ी हो, क्षत्रिय को ऊन की एवं वैश्य के कटि भाग में सन की मेखला को धारण कराते समय इस मंत्र का उच्चारण करते हैं"–

ऊँ इयं दुरूक्तं परिवाधमाना वर्ण पवित्रं पुनतीम् आगात्।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसोदेवा सुभगा मेखलेयम्।।"[3]

अर्थात् पाप को दूर करती हुयी, शोधक के भाँति मनुष्यों को शुद्ध करती हुयी श्वाँस तथा प्रश्वाँस की शक्ति से स्वयं को आवृत करती हुयी एवं शक्ति के साथ भगिनी मेखला मेरे समीप आयी है। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार "ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य की मेखला क्रमशः मुञ्ज, मूर्वा (प्रत्यंचा हेतु) एवं पटुआ की होनी चाहिये"।[4]

---

1 पारस्कर गृह्यसूत्र–2/2/10
2. आपस्तम्बधर्मसूत्र–1/1/2/39 एवं 1/1/3/1–2
3. पारस्कर गृह्यसूत्र–2/2/11
4 आश्वलायन गृह्यसूत्र–1/19/11

यज्ञोपवीत

ब्रह्मचारी बालको को मेखला धारण कराने के उपरांत उन्हें उपवीत–सूत्र प्रदान किया जाता है, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृत्य है। यज्ञोपवीत उपनयन संस्कार का प्राणतत्त्व है।

यज्ञोपवीत के सन्दर्भ में मनुस्मृति का कथन इस प्रकार है–

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत।

शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्।।[1]

अर्थात् "ब्राह्मण को कपास का, क्षत्रिय को सन का एवं वैश्य को भेड़ के ऊन का उपवीत धारण करना चाहिये"। उपवीत के तीन धागे क्रमशः सत्त्व, रजस, एवं तमस् के प्रतीक है। अब ब्रह्मचारी बालक के यज्ञोपवीत के लिये उपलब्ध यज्ञोपवीत–सूत्र पर पवित्र जल छिडक कर इस मंत्रोच्चारण के साथ शुद्ध कर लेते हैं–

ॐ आपो हिष्ठामयो भुवस्तानऽऊर्जे दधातन। महेरणाय चक्षसे।।
ॐ यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः।।
ॐ तस्माऽअरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः।।[2]

यज्ञोपवीत के शुद्धीकरण के उपरांत उसके प्रत्येक तन्तु में विभिन्न देवताओं का आह्वान किया जाता है। यज्ञोपवीत के तीनों सूत्रों को एक ग्रन्थि में सम्बद्ध करके बाँध देते है, इसे "ब्रह्मग्रन्थि" कहते हैं। आचार्य यज्ञोपवीत को सूर्य की ओर प्रस्तुत करता हुआ, इस मंत्र के उच्चारण के साथ बालक को यज्ञोपवीत प्रदान करता है–

ॐ उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनोधाऽ असि चनो मयि धेहि।

जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं भगाय देवाय त्वा सवित्रे।।[3]

---

1. मनुस्मृति–2/44
2. शुक्लयजुर्वेद–36/14–16
3. शुक्लयजुर्वेद–8/7

अब ब्रह्मचारी बालक आचार्य द्वारा प्रदान किये गये यज्ञोपवीत को दाहिनी भुजा उठाकर बॉये स्कन्ध से यज्ञोपवीत को धारण करता हुआ इस मंत्र का उच्चारण करता है–

"ॐ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्रयं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।।"[1]

अर्थात् "यह परम पवित्र यज्ञोपवीत बालक के आयुष्य, बल एवं तेज में अभिवृद्धि करे"। इस कृत्य के मध्य बालक सूर्य की ओर दृष्टिपात् करता है। ब्रह्मचारी एक उपवीत धारण करता है, परन्तु गृहस्थ दो उपवीत, जिसमें एक उसके पत्नी के निमित्त होता है। उपवीत सूत्रमाला के समान ग्रीवा एवं स्कन्ध पर लटका रहता है। यज्ञोपवीत धारण करने वाला "निवीति" कहलाता है।[2]

अजिन

यज्ञोपवीत प्रदान करने से सम्बद्ध कृत्य के सम्पादित होने के उपरांत ब्रह्मचारी बालक को अजिन् अर्थात् मृग[3] या बकरे[4] का चर्म दिया जाता है। वस्तुतः अजिन ब्रह्मचारी को धारण करने के लिये दिया जाता है। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार "सुन्दर मृगचर्म वर्चस्व तथा बौद्धिक एवं आध्यात्मिक सर्वोच्चता का प्रतीक है"।[5] 'अजिन' का प्रयोग करते समय ब्रह्मचारी आध्यात्मिकता एवं बौद्धिकता का अनुभव करता है।

दण्ड

यज्ञोपवीत कृत्य के सम्पादित होने के उपरांत आचार्य, विद्यार्थी को दण्ड प्रदान करते हैं। दण्ड ग्रहण करते समय विद्यार्थी इस पवित्र मंत्र का उच्चारण करता है–

ॐ यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधिभूम्याम्।

तमहं पुकरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय।।[6]

अर्थात् मेरा दण्ड जो वायुमण्डल में भूमि पर गिर गया, मै दीर्घायुष्य, वर्चस्व तथा शुचिता के लिये उसे पुनः ग्रहण करता हूँ।

---

1. पारस्कर गृह्यसूत्र–2/2/13
2. वीर मित्रोदय संस्कार प्रकाश–पृ0स0–423, भाग–1
3. अथर्ववेद–5/21/7,
4. शतपथ ब्राह्मण'5/2/1/21
5. पूर्वपृष्ठ, 18, पादटिप्पणी–11
6. आश्वलायन गृह्यसूत्र–2/2/14,

आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार "ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिये क्रमशः पलाश, उदुम्बर (गूलर) एवं बिल्व का दण्ड होना चाहिये"।[1]

अपरार्क के अनुसार "दण्ड का प्रयोग विद्यार्थी को समिधा एकत्रित करने के लिये अथवा गुरू की गाय चराने के लिये अथवा अन्धकार में यात्रा के समय आत्मविश्वासी एवं आत्मनिर्भर बनाता है"।[2] वस्तुतः ब्रह्मचारी बालकों को दण्ड पशुओं से रक्षा एवं आत्मविश्वास की अभिवृद्धि हेतु दिया जाता था।

प्रतीकात्मक कृत्य में आचार्य अपनी बँधी हुयी अंजलि में जल लेकर विद्यार्थी की बँधी हुयी अंजलि में मंत्रोच्चारण के साथ गिरा देते है, यह कृत्य शुचित्व का प्रतीक है–

शुचित्वसिद्धये तस्य सावित्रीग्रहणो गुरूः।

अभिमन्त्र्य यथावारि सिञ्चत्येव तदञ्जली।।[3]

वस्तुतः गायत्री–मंत्र के जप के लिये शुचिता अनिवार्य है, इसीलिये मंत्रोच्चारण के साथ आचार्य ब्रह्मचारी के अञ्जलि में जल छोड़ता है, जिससे वह गायत्री–मंत्र के लिये पवित्र हो जाये। इस कृत्य में अब आचार्य ब्रह्मचारी बालक को सूर्य का दर्शन कराते हुये इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

ॐ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत७ श्रृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम, शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।[4]

अब आचार्य बालक के दक्षिणी स्कन्ध की ओर जाकर अपने हस्त से बालक के हृदय को स्पर्श करता हुआ इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

ॐ ममव्रते ते हृदयं दधामि मम् चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
वाचमेकव्रतो जुषस्वबृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्।।[5]

अर्थात् मै अपने व्रत में तेरा हृदय धारण करता हूँ, तेरा चित्त मेरे चित्त का अनुगामी हो। इस प्रार्थना का उद्देश्य विद्यार्थी एवं आचार्य के मध्य एक कृत्रिम

---

1 आश्वलायन गृह्यसूत्र–11/19/13 एव 20/1
2 याज्ञवल्क्य स्मृति–अपरार्क–1/29
3 आश्वलायनाचार्य, वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग 1, पृ0–426
4 शुक्लयजुर्वेद–36/24
5 पारस्कर गृह्यसूत्र–2/2/18

सम्बन्ध न होकर हृदयात्मक एवं पवित्र सम्बन्ध स्थापित हो। वस्तुतः हृदयात्मक सम्बन्ध एवं पवित्रता से ही शिष्य एवं गुरू के मध्य शिक्षा की प्रगति हो सकती है। अब विद्यार्थी को आचार्य 'अस्मा' पर आरूढ़ होने के लिये कहता है। इस कृत्य से विद्यार्थी को सबल एवं चरित्रवान् बनाया जाता है। अस्मा अर्थात् प्रस्तर–खंड विद्यार्थी को यह सदुपदेश देता है कि वह दृढ़निश्चयी एवं चरित्रवान् बने। आचार्य ब्रह्मचारी बालक का दक्षिण हस्त ग्रहण करके उसका नाम पूछता है? बालक उत्तर में अपना 'अमुक' नाम कहता है। आचार्य पुनः पूछता है कि वह किसका विद्यार्थी है, बालक उत्तर देता है 'आपका'। आचार्य उसके उत्तर का संशोधन करते हुये कहता है–तू इन्द्र का ब्रह्मचारी है, अग्नि तेरा आचार्य है मै तेरा आचार्य हूँ। प्रश्नोत्तर में आचार्य इस प्रकार मंत्रोच्चारण करते हैं–

ऊँ इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव (अमुक)।

अब आचार्य विद्यार्थी के रक्षा एवं अध्यापन हेतु अपने संरक्षण में उसे स्वीकार करता है। आचार्य विद्यार्थी को सहृदय स्वीकार करता हुआ इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

ऊँ प्रजापतये त्वा परिददामि। ऊँ देवाय त्वा सवित्रे परिददामि। ऊँ अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि। ऊँ द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि। ऊँ विश्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददामि। ऊँ सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददामि।[1]

अर्थात् आचार्य कहते हैं–मै तुझे प्रजापति के संरक्षण में देता हूँ। तुझे सविता के संरक्षण में देता हूँ। तुझे द्यावा–पृथिवी के शरण में देता हूँ। क्षति से रक्षा के लिये तुझे अखिल भूतों के संरक्षण में देता हूँ।

---

1. पारस्कर गृह्यसूत्र–2/2/23

अब आचार्य अग्नि की एक प्रदक्षिणा करके उसमें आहुति देने के पश्चात् ब्रह्मचारी को स्वीकार करता हुआ यह आदेश देता है–

''ब्रह्मचार्यस्यपोशान, कर्म कुरू मा दिवा सुषुप्थाः, वाचं यच्छ, समिधमाधे ह्यपो शानेति''[1],

अर्थात् तू ब्रह्मचारी है, जलग्रहण कर, दिन में शयन न कर, वाक्यसंयम कर, अग्नि में समिधा का आधान कर, जलग्रहण कर। इस कृत्य में 'जल' का आशय अमृत से है। आचार्य ब्रह्मचारी से अमृत ग्रहण करने के लिये कहता है। 'कर्म' का सम्बन्ध ओजस्विता एवं उत्साह से है। 'समिधा' का तात्पर्य मन को अग्नि से प्रकाशित करने से है। 'शयन' न करने का तात्पर्य है कि तेरी मृत्यु कभी न हो। इस प्रकार आचार्य के द्वारा विद्यार्थी के निमित्त उपर्युक्त समस्त आदेश, शिष्य के प्रति व्यवहारिक शिक्षा एवं भावनात्मक सम्बन्ध को प्रकट करते हैं।

सावित्री

सावित्री अर्थात् गायत्री मंत्र का प्रशिक्षण विद्यार्थी को उपनयन संस्कार के अन्तर्गत ही दिया जाता है। आचार्य अब विद्यार्थी को अत्यन्त पवित्र सावित्री मंत्र का उपदेश देते हैं। यदि बालक यह मंत्र उस दिन न समझ सके तो सावित्री मंत्र का उपदेश एक वर्ष, छह मास, चौबीस दिन, बारह दिन अथवा तीन दिन के पश्चात् किया जा सकता है।[2] बालक के मुख की ओर दृष्टिपात् करते हुये इस प्रकार सावित्री मंत्र का उच्चारण करते हैं–

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो योनः प्रचोदयात्।[3]

अर्थात् ''हम सविता के वरेण्य (वरण करने योग्य) 'भर्ग' अर्थात् तेज को धारण करते हैं। वह हमारी बुद्धि को प्रेरित करे''। इस कृत्य में मन्त्र के प्रत्येक

1. पारस्कर गृह्यसूत्र–2/3/2
2. पारस्कर गृह्यसूत्र–2/3/3
3. यजुर्वेद–3/35, ऋग्वेद, 3/62/10

पाद का, उसके उपरांत प्रत्येक चरण का एवं अंत में सम्पूर्ण मंत्र का उच्चारण किया जाता है। 'विप्र' के लिये आचार्य सावित्री का उपदेश 'गायत्री छन्द' मे, 'क्षत्रिय' के लिये त्रिष्टुप छन्द में तथा वैश्य के लिये 'जगती छन्द' में अथवा सामान्यतः सभी वर्णो के निमित्त 'गायत्री छन्द' में उपदेश करते हैं। सावित्री मंत्र का उपदेश ब्रह्मचारी बालक के द्वितीय जन्म का प्रतीक होता है। सावित्री के सन्दर्भ में मनुस्मृति का कथन इस प्रकार है—"तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते"।[1]

अर्थात् आचार्य, बालक का पितृस्थानीय एवं सावित्री मातृस्थानीय स्वीकार की जाती है। विद्यार्थियों के बल, बुद्धि एवं तेज के विकास में सावित्री अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृत्य है। सावित्री, उपनयन संस्कार में यज्ञोपवीत के सदृश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृत्य है। गायत्री—उपदेश सम्पन्न होने के उपरांत 'समिधाधान' का कृत्य आता है। "गायत्री उपदेश के उपरांत अग्नि को प्रथम अवसर पर प्रदीप्त करके एवं उसमें आहुति समर्पित करने का कृत्य किया जाता है"।[2] अब ब्रह्मचारी विद्यार्थी अग्नि के चारों ओर की भूमि को पूर्णतः स्वच्छ करता हुआ इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है—ऊँ अग्नेसुश्रवसुश्रवसं मा कुरू स्वाहा।।1।। ऊँ या त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि स्वाहा।।2।। ऊँ एवं माथ्वसुश्रवः सौश्रवसं कुरू स्वाहा ।।3।। ऊँ यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य रिषिधा असि स्वाहा ।।4।। ऊँ एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निर्धिपो भूयासम् स्वाहा ।।5।।[3]

अर्थात् हे दीप्तिमान अग्ने, मुझे दीप्तिमान कर। हे दीप्तिमान अग्नि जिस प्रकार तू दीप्तिमान है ,वही दीप्ति मुझे प्रदान कर। जिस प्रकार तू देवताओं के लिये यज्ञ—निधि का रक्षक है, उसी प्रकार मुझे भी मनुष्यों के लिये वेदों के निधि का

---

1. मनुस्मृति—2/170
2. पारस्कर गृह्यसूत्र—2/4/1—8
3. पारस्कर गृह्यसूत्र 2/4/2

रक्षक बनने की क्षमता प्रदान कर। अब विद्यार्थी बालक अग्नि में समिधाधान करता हुआ इस मंत्र का उच्चारण करता है–

ऊँ अग्नयेसमिधमाहार्ष वृहते जातवेदसे यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहिमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराक्ररिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यान्नादो भूयासम्।।[1]

अर्थात् अब विद्यार्थी अग्नि में घृत मिश्रित समिधाओं को समर्पित करते हुये कहता है–मै उस जातवदेस् अग्नि के लिये समिधा लाया हूँ। हे जातवेदस्! जिस प्रकार तू समिधा से समिद्ध है, उसी प्रकार मै जीवन, अन्तर्दृष्टि, तेज, प्रजा, पशु तथा ब्रह्मवर्चस् से समिद्ध होऊँ। मैं अन्तर्दृष्टि से पूर्ण बनूँ, पठित मुझे विस्मृत न हो। मै तेज, प्रकाश तथा ब्रह्मवर्चस् से सम्पन्न बनूँ, एवं अन्न का उपभोग करूँ, स्वाहा।

इस प्रकार उपर्युक्त मंत्र का उच्चारण समिधा से हवन करते समय किया जाता है। वस्तुतः यज्ञीय अग्नि व्यक्ति के जीवन में प्रकाशमय समृद्धि का प्रतीक है। समिधाधान विद्यार्थी जीवन का अभिन्न अङ्ग एवं महत्त्वपूर्ण कृत्य है। वस्तुतः यज्ञीय अग्नि विद्यार्थी जीवन में बह्मचर्य एवं प्रकाशत्त्व का द्योतक है।

भिक्षा

अग्नि में समिधाधान कृत्य के उपरांत विद्यार्थी भिक्षान्न के निमित्त याचना करता है। उपनयन संस्कार के अन्तर्गत 'भिक्षा' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृत्य है, क्योंकि उपनयन संस्कार सम्पादित होने के उपरांत ब्रह्मचारी विद्यार्थी को भिक्षान्न के साथ ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करना पड़ता है। उपनयन कृत्य में भिक्षान्न की याचना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि विद्यार्थी की यह मनोवृत्ति भिक्षा के निमित्त सम्पूर्ण विद्यार्थी जीवन तक विद्यमान रहती है। उपनयन के अवसर बालक, पर माता–पिता एवं अन्य सम्बन्धियों से भिक्षा माँगता है, जिससे वे प्रतिषेध न कर सके। इस कृत्य में बालक भिक्षापात्र लेकर भिक्षा माँगता है।

1. पारस्कर गृह्यसूत्र–2/4/3

ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य भिन्न–भिन्न प्रकार से भिक्षा माँगते है, तीनो वर्णों का क्रम क्रमशः इस प्रकार है–

"ब्राह्मण–भवति भिक्षां देहि। क्षत्रिय–भिक्षां भवति देहि। वैश्य–भिक्षां देहि भवति"। भिक्षा की प्रक्रिया से विद्यार्थियों में समरसता की भावना उत्पन्न होती है। इस कृत्य से उनमें शीलता–शिष्टाचार का विकास तथा प्रमाद, क्रोध इत्यादि दुष्वृत्तियाँ समाप्त हो जाती है। उपनयन के उपरांत विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य व्रत का पूर्णतः पालन करना पड़ता है। वस्तुतः गुरूकुल में विद्यार्थियों में एकीकरण की भावना उत्पन्न करने के लिये भी भिक्षा की याचना अत्यन्त आवश्यक थी।

त्रिरात्र–व्रत

उपनयन कृत्य के सम्पादित हो जाने के उपरांत विद्यार्थी तीन दिवस–पर्यन्त कठोर नियम–संयम या ब्रह्मचर्य–व्रत का पालन करता है, जिसे "त्रिरात्र–व्रत" कहते हैं।[1] यह व्रत विद्यार्थी जीवन में कठोर अनुशासन का भाव प्रकट करता है। इसकी अवधि एक वर्ष अथवा द्वादश दिवस भी हो सकती है। इस व्रत में क्षारयुक्त भोज्य–पदार्थ निषिद्ध है तथा ब्रह्मचारी विद्यार्थी को भूमि पर ही शयन करना पड़ता है। त्रिरात्र–व्रत के अवसर पर ब्रह्मचारी विद्यार्थी माँस, मद्य का सेवन एवं दिवस–काल में शयन नही करता है। त्रिरात्र व्रतान्त में बुद्धि, स्मृति के अभिवृद्धि के लिये ईश्वरीय सहायता प्राप्त करने के निमित्त "मेधाजनन" कृत्य सम्पन्न किया जाता है।[2] दिव्य मेधा–शक्ति से ही वैदिक ज्ञान को अन्तःकरण में आत्मसात् किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में शौनक का कथन इस प्रकार है–

या सावित्री जगद्धात्री सैव मेधास्वरूपिणी।

मेधाप्रसिद्धये पूज्या विद्यासिद्धिमभीप्सिता।।[3]

अर्थात् "विद्या–सिद्धि को प्राप्त करने के इच्छुक विद्यार्थी को जगत् की धात्री सावित्री देवी की उपासना अवश्य करनी चाहिये, ये साक्षात् मेधास्वरूपिणी हैं।"

इस प्रकार त्रिरात्र–व्रत के साथ ही 'उपनयन संस्कार' सम्पन्न हो जाता है। अब विद्यार्थी वेदाध्ययन के लिये पूर्णतः अर्ह हो जाता है।

---

1. आश्वलायन गृह्यसूत्र–1/22/12
2. भारद्वाज गृह्यसूत्र–1/10
3. शौनक–वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग–1, पृष्ठ–44

उपनयन संस्कार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

उपनयन संस्कार के अन्तर्गत ब्रह्मचारी बालक को गुरू के समीप ज्ञान प्राप्ति के निमित्त ले जाते हैं। इस कृत्य के द्वारा जीवन में नियम–संयम का अनुपालन करने के निमित्त बालक को यज्ञोपवीत धारण कराया जाता है। उपनयन संस्कार के माध्यम से बालक में आत्मविश्वास जागृत करके, उसका मानसिक उन्नयन किया जाता है, जिससे वह ज्ञान प्राप्त करने के लिये सक्षम हो सके। आधुनिक मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है कि "बालक के मानसिक विकास की सम्यक् जानकारी से अध्यापक को उसे सुशिक्षित बनाने में बहुत सहायता पहुँचती है[1]।" उपनयन संस्कार के माध्यम से बालक में यम–नियम का विकास किया जाता है। इस संस्कार के माध्यम से बालक में अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य अस्तेय, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर–प्रणिधान की भावना का विकास किया जाता है। वस्तुतः यम–नियम के अनुपालन से बालक का मानसिक स्वास्थ्य सबल होता है और वह गुरू के समीप गुह्यज्ञान प्राप्त करने की पात्रता विकसित करता है। मानसिक स्वास्थ्य एक आवश्यक तत्त्व है, इसका समर्थन आधुनिक मनोविज्ञान इस प्रकार करता है– **"Mental Hygiene is a science that deals with the human welfare and pervade all fields of human relationship."**[2] इस प्रकार उत्तम मानसिक स्वास्थ्य की स्थिति में ब्रह्मचारी बालक समस्त प्रकार के मानसिक एवं शारीरिक रूग्णता से मुक्त रहता है, ऐसी स्थिति में वह सामाजिकता एवं नैतिकता का अनुपालन करते हुये आचार्य से गुह्यविद्या प्राप्त कर सकता है।

उपनयन संस्कार के माध्यम से बालक में भविष्य में वेदाध्ययन की क्षमता विकसित करने के निमित्त पृष्ठभूमि निर्मित की जाती है। इस कृत्य में बालक को ब्रह्मचारी के गणवेष में भिक्षान्न माँगने के लिये स्वजनों के समीप भेजा

1. शिक्षा मनोविज्ञान डा0 एस0 एस0 माथुर–पृ0–103
2. Crow & crow - Mental Hygiene p-4.

जाता है। सर्वप्रथम बालक स्वजनों से भिक्षा माँगने में संकोच नही करता है, जिससे भविष्य में ब्रह्मचर्य जीवन के अनुपालन के अवसर पर जनसामान्य से भिक्षान्न माँगने के लिये बालक मानसिक रूप से अभ्यस्त हो जाता है। इस कृत्य के द्वारा बालक में नैतिकता, सद्विचार, शीलता, व्यवहारिकता एवं गुरोपसेवा का भाव विकसित किया जाता है। भिक्षा माँगने से विद्यार्थी में "अहम् भाव" पूर्णतः समाप्त हो जाता है। अहम् भाव (Ego) का समाप्त होना विद्यार्थी के लिये परमावश्यक है। आधुनिक मनोविज्ञान से उपर्युक्त विचार का तुलनात्मक अध्ययन करने पर संवेदना (Sensation) से प्रत्यक्षीकरण (Perception) के विकास से सम्बद्ध तथ्य प्राप्त होते हैं। प्रत्यक्षीकरण (Perception) के विषय में आधुनिक मनोविज्ञान का मन्तव्य इस प्रकार है—**"Perception is the process of getting to know of objects and objective facts by use of the senses."**[1]

उपनयन कृत्य में यज्ञोपवीत धारण करने से बालक में यम—नियम का उच्च—भाव विकसित होता है, जिससे बालक का चंचल मन एकाग्रचित्त हो जाता है। इस कृत्य में सावित्री मंत्र के उच्चारण से ब्रह्मचारी बालक की मस्तिष्कीय क्षमता सशक्त होती है एवं आत्मविश्वास की अभिवृद्धि होती है। गायत्री—मंत्रोच्चारण करने से बालक में आध्यात्मिक विषयों के प्रति रूचि एवं अवधान उत्पन्न होता है, ये तत्त्वज्ञान प्राप्ति के क्षेत्र को सुव्यवस्थित करते हैं। 'रूचि एवं अवधान' के विषय में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल का कथन इस प्रकार है—

"Interest is latent attention, attention is interest in action"[2]

वेदाध्ययन के प्रति रूचि एवं एकाग्रता उत्पन्न होने से बालक की स्मरण एवं धारण—शक्ति भी प्रबल होती है। स्मरण के विषय में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक वुडवर्थ का कथन इस प्रकार है—

"Memory consists in remembering what has previously been learned."[3]

इस प्रकार उपनयन संस्कार बालक के व्यक्तित्त्व को वेदाध्ययन की परिस्थितियों के अनुकूल विकसित करता है।

---

1. Woodworth & Marquish, Psychology, 1955, पृ० 402
2. शिक्षा मनोविज्ञान—डा० एस० एस० माथुर, पृ०—294
3. शिक्षा मनोविज्ञान—डा० एस० एस० माथुर, पृ०- 236

वेदारम्भ संस्कार

वेदारम्भ संस्कार विद्यार्थी जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्कार है। वेदाध्ययन से विद्यार्थी के सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रशस्त होता है।वेदाध्ययन से सम्बद्ध प्रमाण ब्राह्मण ग्रन्थों में समुपलब्ध है। वेदाध्ययन के विषय में शतपथ ब्राह्मण का कथन इस प्रकार है–

ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः।
विद्वांसो ही देवाः।।[1]

अर्थात् वेदाध्ययन करने वाला मनुष्य देव की संज्ञा से अलंकृत होता है।

गौतम द्वारा संकलित संस्कारों में वेदाध्ययन एवं गोदान का उल्लेख नहीं मिलता है, इनके स्थान पर वे "चत्वारि वेदव्रतानि" का उल्लेख करते हैं।[2] वेदाध्ययन के विषय में आश्वलायन का विचार इस प्रकार है–

प्रथमं स्यान्महानाम्नी द्वितीयं स्यान्महाव्रतम्।
तृतीयं स्यादुपनिषद् गोदानाख्यन्ततः परम्।।[3]

अर्थात् आश्वलायन के "चत्वारि वेदव्रतानि" का अर्थ क्रमशः महानाम्नी, महाव्रत, उपनिषद् एवं गोदान हैं। वेद तथा इससे सम्बद्ध शाखा के अध्ययन के विशेष विधि–विधानों का वर्णन इस प्रकार किया गया है–

यच्छाखीयैस्तु संस्कारैः संस्कृतो ब्राह्मणो भवेत्।

तच्छाखाध्ययनं कार्यमेवं न पतितो भवेत्।।[4]

प्रारम्भिक काल में 'उपनयन' के साथ 'वेदाध्ययन' भी समाविष्ट था, क्योंकि विद्यार्थी उपनयन कर्म से ही गुरूकुल में प्रवेश करता था, जहॉं पर उसे वेदाध्ययन करना पड़ता था। अत्यन्त पवित्र गायत्री मंत्र से ही वेदाध्ययन का प्रारम्भ स्वीकार किया जाता था, परन्तु कालान्तर में वेदाध्ययन एक स्वतंत्र संस्कार के रूप में विकसित हो गया। सर्वप्रथम व्यास ने अपने स्मृति में वेदाध्ययन का उल्लेख किया है।[5]

---

1 शतपथ ब्राह्मण–3/7/3/10
2 गौतम धर्मसूत्र–8/24
3. आश्वलायन–स० म० पृष्ठ–63
4. वशिष्ठ–वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश–भाग–1–पृष्ठ–338
5 व्यास स्मृति–1/14

वेदारम्भ संस्कार प्रक्रिया

बालक के उपनयन संस्कार के उपरांत वेदारम्भ संस्कार के लिये किसी शुभ तिथि एवं मुहूर्त का निर्धारण कर लिया जाता है। प्रारम्भिक कृत्य में मातृपूजन, शुभ–श्राद्ध कृत्य एवं अन्य आवश्यक कृत्य सम्पन्न किये जाते है। संस्कार के दिवस पर स्नानादि से निवृत्त होकर आचार्य गृहस्थ अग्नि की प्रतिष्ठा करके विद्यार्थी को अग्नि के पश्चिम में बैठाता है। इसके उपरांत आचार्य "ऋग्वेद व्रतादेशं यजुर्वेदव्रतादेशं वा करिष्ये" का उच्चारण करके संकल्प लेता है, अर्थात् मैं, शिष्य को ऋग्वेद या यजुर्वेद के अध्ययन का व्रत लेने के लिये आज्ञा दूँगा। अब अग्नि में साधारण आहुतियॉ समर्पित की जाती है।

वेदाध्ययन यदि ऋग्वेद से आरम्भ करना हो तो घृत की दो आहुतियाँ अग्नि एवं पृथ्वी को इस मंत्रोच्चारण के साथ प्रदान देते हैं–

ऊँ अनुमतये स्वाहा। इदं अनुमतये नमम।

ऊँ अग्नये स्वाहा। इदमग्नये नमम।

सामान्यतः यदि यजुर्वेद से वेदाध्ययन प्रारम्भ करना हो तो अन्तरिक्ष एवं वायु को दो आहुतियाँ दी जाती हैं। अन्तरिक्ष एवं वायु को आहुतियाँ इस प्रकार मंत्रोच्चारण के साथ प्रदान की जाती हैं–

ऊँ अन्तरिक्षाय स्वाहा। इदमन्तरिक्षाय नमम।

ऊँ वायवे स्वाहा। इदं वायवे नमम।

वेदाध्ययन यदि सामवेद से प्रारम्भ करना हो, तो द्यौ एवं सूर्य को दो आहुतियॉ इस प्रकार मंत्रोच्चारण के साथ दी जाती हैं–

ऊँ दिवे स्वाहा। इदं दिवे नमम।

ऊँ सूर्याय स्वाहा। इदं सूर्याय नमम।

वेदाध्ययन यदि अथर्ववेद से आरम्भ करना हो तो घृत की दो आहुतियाँ दिशाओं एवं चंद्र को इस मंत्र के साथ दी जाती हैं–

ऊँ दिग्भ्यः स्वाहा। इदं दिग्भ्यः न मम।

ऊँ चन्द्रमसे स्वाहा। इदं चन्द्रमसे न मम।

यदि सभी वेदों का अध्ययन एक साथ करना हो, तो उपर्युक्त सभी आहुतियाँ समर्पित की जाती हैं। इसके उपरांत ब्रह्मा, छन्दस् एवं प्रजापति के निमित्त होमादि कृत्य सम्पादित किये जाते हैं। वेदाध्ययन करने के उपरांत आचार्य एवं विद्यार्थी 'ऊँ स्वस्ति' का उच्चारण करते हैं। अब आचार्य खड़े होकर धृत, फल एवं पुष्प सहित स्रुवा को विद्यार्थी के हाथ में समर्पित करता हुआ इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

ऊँ मूर्धानं दिवोऽ अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽआजातमग्निम्।

कविꣳसम्राजमतिथिं जनानामासन्नापात्रं जनयन्त देवाः।।[1]

इस कृत्य में अब विद्यार्थी बालक स्रुवा से भस्म लेकर दक्षिण अनामिका से अपने शरीर के ललाट, ग्रीवा एवं हृदय आदि पर इस प्रकार मंत्रोच्चारण के साथ लगाता है–

ऊँ त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।

यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्।।[2]

जब आचार्य स्वयं भस्म लगाये तो 'तन्नो' एवं शिष्य भस्म लगाते समय 'तन्नो' के स्थान पर 'तत्ते' का उच्चारण करता है।

वेदाध्ययन संस्कार–प्रक्रिया के समापन के अवसर पर 'यान्तुः मातृगणा सर्वे'' के उच्चारण के साथ ही मातृगणों का विसर्जन हो जाता है। इस प्रकार 'वेदारम्भ संस्कार' के विधि–विधान को सम्पादित करने के उपरांत विद्यार्थी के सर्वांगीण विकास से सम्बद्ध वेदाध्ययन प्रारम्भ हो जाता है।

---

1. शुक्लयजुर्वेद–7/24
2. शुक्लयजुर्वेद–3/62

वेदारम्भ संस्कार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

वेदाध्ययन संस्कार में परम्परागत् विधि से वेद–वेदांग की शिक्षा प्रदान की जाती है। यह विद्यार्थी जीवन का महत्त्वपूर्ण संस्कार है, क्योंकि इससे विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास होता है। वेदाध्ययन से बालक का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, शैक्षिक एवं आध्यात्मिक उन्नयन होता है। वस्तुतः यह कृत्य विद्यार्थी के सामंजस्यपूर्ण व्यक्तित्त्व का निर्माण करता है, जिससे वह स्वयं को लौकिक एवं पारलौकिक जगत् में सरलता से समायोजित कर सकता है। व्यक्तित्त्व (Personality) को आधुनिक मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है–"**Personality can be broadly defined as that total quality of an individual's behaviour as it is revealed in his habits of thought and expression, his attitudes and interest his manner of acting and his personal philosophy of life.**"[1]

वेदाध्ययन के समय विद्यार्थी गुरूकुल में एक आदर्श विद्यार्थी के रूप में रहता है, उसमें सामाजिकता, गुरू–सेवा, शीलता, दया, धैर्य, करूणा, दार्शनिक–चिंतन, यम–नियम तथा ब्रह्मचर्य का भाव स्थायी रूप में विद्यमान रहता है। ये समस्त आदर्शमूलक विषय विद्यार्थी के प्रभावशाली व्यक्तित्त्व के निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं। वेदाध्ययन से विद्यार्थी में सृजनात्मकता एवं कल्पना–शक्ति की अभिवृद्धि होती है, जिससे वह दार्शनिक क्षेत्र में आने वाले विभिन्न प्रकार के अवरोधों से मुक्त होकर आध्यात्मिक चिंतन के प्रति तत्पर रहता है। मनोविज्ञान भी सृजनात्मकता एवं कल्पना को व्यक्ति के जीवन में घटित होने वाली समस्या के समाधान हेतु महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में स्वीकार करता है। सृजनात्मकता के विषय में मनोविज्ञान का विचार इस प्रकार है–

"A process extended in time and characterized by originality adaptiveness and realization."[2]

---

1. woodwoith, Psychology, 1955, p-87 to 88
2. Donald. W. Mckinnon, "The Nature and nature of creative Talent, American Psychology, 16 (July 1956), P- 484 - 495

वेदाध्ययन से विद्यार्थी में मौलिकता, अनुकूलता एवं सम्पादन की क्षमता विकसित होती है। कल्पना **(Imagination)** के विषय में आधुनिक मनोविज्ञान का दृष्टिकोण इस प्रकार है–"कल्पना **(Imagination)** व्यक्ति को वैयक्तिक अनुभव के परे ले जाती है"।[1] अतः वेदाध्ययन से विद्यार्थी वैयक्तिक–अनुभव (Personal experience) से अतिरिक्त चिंतन करके जटिल आध्यात्मिक विषयों का अन्वेषण करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वेदाध्ययन एक ऐसा मनोवैज्ञानिक पर्यावरण (Psychological environment) है, जिससे विद्यार्थी के व्यक्तित्त्व का सर्वांगीण अभ्युदय होता है।

---

1. Personal experience-शिक्षा मनोविज्ञान–डा0 एस0 एस0 माथुर–पृ0–329

केशांत या गोदान संस्कार

केशान्त संस्कार में सिर के एवं शरीर के अन्य भागों के केशों का क्षौर किया जाता है, यथा–"काँख के केश, दाढ़ी एवं श्मश्रु इत्यादि का केशच्छेदन किया जाता है। "केशान्त अथवा प्रथम–क्षौर कर्म चार वैदिक व्रतों में से एक था"।[1] शतपथ ब्राह्मण में दीक्षा के अवसर पर केशांत संस्कार से सम्बद्ध वर्णन इस प्रकार है–

अपराह्णे दीक्षेत। पुरा केशश्मश्रोर्वपनाद्यत्कामयेत तदश्नीयाद्वा सम्पद्येत व्रत ह्य ह्येवास्यातोऽशनं भवति यद्यु नाशिशिषेदपि कामं नाश्नीयात्।।[2]

ब्राह्मण ग्रन्थ के उपर्युक्त कथन का विवेचन करने पर ऐसा ज्ञात होता है कि केशांत संस्कार में विद्यार्थी के केश एवं श्मश्रु आदि का वपन किया जाता है। सामान्यतः 'केशान्त' में ब्रह्मचारी के श्मश्रुओं का केशच्छेदन सर्वप्रथम किया जाता है। इस कृत्य के अवसर पर आचार्य को गौ–दान एवं नापित को भी उपहार दिया जाता है। इस कृत्य में गौ–दान के कारण इस संस्कार को गोदान भी कहते है। मनु के अनुसार "ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य का केशान्त क्रमशः 16, 22 या 24वें वर्ष में सम्पादित करना चाहिये"।[3] आश्वलायन गृह्यसूत्र में भी कहा गया है कि "इस आयु में बालक ब्रह्मचारी नहीं रहता है, उसके श्मश्रु इत्यादि निकल आते हैं"।[4] वस्तुतः इस अवस्था में ब्रह्मचारी बालक यौवन–काल में प्रवेश करता है। यौवनकाल में विद्यार्थी का ब्रह्मचर्य स्खलित न हो, इसीलिये केशांत संस्कार के माध्यम से उसे ब्रह्मचर्य का पुनर्स्मरण (Remembering) कराया जाता है। क्षौर–कर्म के उपरांत ब्रह्मचारी बालक पुनः एक वर्ष–पर्यन्त कठोर ब्रह्मचर्य–व्रत का पालन करता है। वस्तुतः गोदान या केशांत संस्कार की विधि कुछ अन्तर के साथ चूड़ाकरण के सदृश है।

केशांत या गोदान संस्कार प्रक्रिया

सामान्यतः यह संस्कार सोलह वर्ष की आयु में सम्पादित किया जाता था। इस संस्कार के सम्पूर्ण विधि–विधान चूड़ाकरण संस्कार के सदृश है, परन्तु कुछ मौलिक अन्तर के साथ केशांत संस्कार में दाढ़ी एवं श्मश्रु आदि का ही क्षौर–कर्म होता है। इस कृत्य के उपरांत आचार्य को गौ–दान किया जाता है। इस संस्कार के समाप्त होने पर विद्यार्थी पुनः एक वर्ष–पर्यन्त ब्रह्मचर्य के नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करता है।

---

1 आश्वलायन संस्कार मयूख -पृष्ठ सं0- 63
2. शतपथ ब्राह्मण–3/1/2/1
3. मनु–2/65
4. आश्वलायन गृह्यसूत्र–1/18

केशांत या गोदान संस्कार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

केशांत संस्कार में विद्यार्थी के शरीर के विभिन्न स्थानों, यथा–काँख, दाढी एवं श्मश्रु इत्यादि के केशों का क्षौर किया जाता है। विद्यार्थी ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये वेदाध्ययन करता है, परन्तु केशांत संस्कार में विद्यार्थी के ब्रह्मचर्य की दृढ़ता में अभिवृद्धि की जाती है वस्तुतः केशांत संस्कार के माध्यम से विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य का पुनर्स्मरण कराया जाता है। स्मरण (Remembering) के विषय में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक 'वुडवर्थ' का कथन इस प्रकार है–"**Memory consists in remembering what has previously been learned.**"[1]

केशांत संस्कार में विद्यार्थी का क्षौर–कर्म करने के उपरांत उसे एक वर्ष –पर्यन्त ब्रह्मचर्य के कठोर व्रत का पालन करना पड़ता है। वस्तुतः विद्यार्थी के जीवन में यौवनावस्था प्रारम्भ होने के कारण उसका ब्रह्मचर्य खंडित हो सकता है, इसीलिये केशांत या गोदान संस्कार नामक कृत्य सम्पादित किया जाता है। केशांत कृत्य को मनोवैज्ञानिक भाषा में ब्रह्मचर्य का प्रत्यावाहन (Recall) भी कहा जा सकता है। प्रत्यावाहन के विषय में मनोविज्ञान का दृष्टिकोण इस प्रकार है–"**Recall: The process whereby a representation of past experience in elicited specifically evoking or experiencing an image.**"[2]

केशांत संस्कार के माध्यम से विद्यार्थी में ब्रह्मचर्य के प्रति रूचि एवं अवधान की अभिवृद्धि होती है, जिससे उसका ज्ञान क्षेत्र अधिक प्रबुद्ध होता है। रूचि एवं अवधान के विषय में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक 'मैक्डूगल' का कथन इस प्रकार है–

"Interest is latent attention, attention is interest in action."[3]

केशांत संस्कार से विद्यार्थी के ब्रह्मचर्य को पुनर्जीवित करने से उसमें अधिगम एवं एकाग्रता की अभिवृद्धि होती है। अधिगम (Learning) के विषय मे प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक वुडवर्थ एवं मारक्विस् का कथन इस प्रकार है–"**Learning consists to in doing something new, provided this something new is retained by the individual and reappears in his later activities.**"[4]

इस प्रकार 'केशांत या गोदान संस्कार' ब्रह्मचारी विद्यार्थी को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सशक्त एवं प्रभावशाली बनाता है।

---

1. Woodwarth – (शिक्षा मनोविज्ञान–डा० एस० एस० माथुर–पृष्ठ- 236)
2. English & English Dictionary of Psychological and Analytical Terms
3. शिक्षा मनोविज्ञान–डा० एस० एस० माथुर–पृष्ठ–294
4. Woodwarth & Marquish-Psychology-Page no. 491

समावर्तन संस्कार

वेदाध्ययन के समाप्त हो जाने पर समावर्तन संस्कार सम्पादित किया जाता है। ब्रह्मचारी बालक के वेदाध्ययन के उपरांत स्नान करके गुरूकुल से गृहस्थ जीवन में पुनः प्रवेश करने की प्रक्रिया को 'समावर्तन संस्कार' कहते है। यह संस्कार विद्यार्थी जीवन के पूर्णता के उपरांत गृहस्थ जीवन में प्रवेश का सूचक है। समावर्तन के सन्दर्भ में इस प्रकार कथन प्रस्तुत किया गया है–

"तत्र समावर्तनं नाम वेदाध्ययनान्तरं गुरूकुलात् स्वगृहागमनम्[1]"।

विद्यार्थी जीवन के अवसान का समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। समावर्तन से विद्यार्थी जीवन में दो मार्ग प्रस्फुटित होते है; प्रथम– प्रवृत्ति मार्ग, जिसमें सांसारिक जीवन में प्रवेश होता है। द्वितीय–निवृत्ति मार्ग, जिसमें सामाजिक बन्धनों से मुक्त होकर तपश्चर्या का जीवन व्यतीत किया जाता है। प्रथम मार्ग को 'उपकुर्वाण' एवं द्वितीय मार्ग को 'नैष्टिक' कहतें है।[2]

सामान्यतः समावर्तन संस्कार उन्हीं विद्यार्थियों का करते हैं, जो अपना अध्ययन ब्रह्मचर्य–व्रत के साथ पूर्ण कर चुके हो। समावर्तन संस्कार के समय के सन्दर्भ में निश्चित अवधारणा नही है। सामान्यतः 36, 24 अथवा 18 वर्ष के अन्तर्गत वेदाध्ययन समाप्त होने के उपरांत इस कृत्य को सम्पादित करते हैं। समावर्तन संस्कार में गुरू की अनुमति महत्त्वपूर्ण है। समावर्तन के निमित्त गुरू की अनुमति के सन्दर्भ में गृह्यसूत्र का कथन इस प्रकार है–

"विद्यान्ते गुरूमर्थेन निमन्त्र्य कृतानुज्ञानस्य वा स्नानमिति।"[3]

अर्थात् स्नान के उपरांत शिष्य, विद्यार्थी जीवन की समाप्ति के लिये गुरू से अनुमति की प्रार्थना एवं दक्षिणा द्वारा उन्हें प्रसन्न करता है। इस सन्दर्भ में मनुस्मृति का कथन इस प्रकार है–

गुरूणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।

उद्वहेत द्विजो भार्या सवर्णा लक्षणान्विताम्।।[4]

अर्थात् गुरू की अनुमति प्राप्त करके समावर्तन संस्कार करना चाहिये तथा उसके पश्चात् सवर्ण एवं लक्षणान्वित कन्या से विवाह करना चाहिये। गुरूदक्षिणा के सन्दर्भ में कहा गया है कि "गुरू को पृथ्वी, स्वर्ण, गाय, अश्व, छत्र, उपानह वस्त्र, फल तथा वनस्पतियाँ दक्षिणा स्वरूप भेट करना चाहिये।[5]

---

1. वीरमित्रोदय सस्कार प्रकाश–भाग–1–पृष्ठ 564
2. याज्ञवल्क्य–स्मृति–1/49
3. आश्वलायन गृह्यसूत्र–3/8
4. मनुस्मृति–3/4
5. मनुस्मृति–2/246

समावर्तन संस्कार प्रक्रिया

समावर्तन संस्कार के निमित्त सर्वप्रथम शुभ दिन, नक्षत्र एवं मुहूर्त आदि का निश्चय करना चाहिये। इस कृत्य में विद्यार्थी एक कक्ष में प्रातः काल तक प्रकृति एवं समाज से पृथक् रहता है। स्नातक विद्यार्थी के विषय में गृह्यसूत्र का कथन इस प्रकार है–

"एतदहःस्नातानां ह वा एष एतत्तेजसा तपति तस्मादेनमेतदहर्नाभितपेत्।[1] अर्थात् "सूर्य स्नातक विद्यार्थी के तेज से अपमानित न हो, क्योंकि सूर्य स्नातक विद्यार्थी के तेज से प्रकाशित होता है"। इस कृत्य में मध्याह्न के समय विद्यार्थी कक्ष के बहिर्गत् होकर, गुरू के चरणों का नमन करके कुछ समिधाओं द्वारा वैदिक अग्नि में अन्तिम आहुति समर्पित करता है। विभिन्न दिशाओं में जल से परिपूर्ण 'अष्ट–कलश' रखे जाते है।वस्तुतः इन 'अष्ट–कलश' के द्वारा अष्ट–दिग्भागों से ब्रह्मचारी के ऊपर जलवृष्टि करके उसके कीर्ति के अभिवृद्धि का भाव प्रकट करते हैं। इस कृत्य में अब ब्रह्मचारी विद्यार्थी एक कलश पात्र से जल ग्रहण करते समय इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

ऊँ ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूखोमनोहास्खलो विरूजस्त नूदूषुरिन्द्रियहान् विजहामि गोरोचनस्तमहि गृहणामि। तेन मामभिषिंचामिश्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाम्[2]।।

अर्थात् "जलों में रहने वाले तथा प्रच्छन्न, आवृत, प्रकाश की किरण, मनोनाशक, असहिष्णु, कष्टदायी, शरीर को ध्वंस करने वाले तथा अङ्गों को नष्ट करने वाले अग्नि का मै त्याग करता हूँ। वह दीप्तिमान अग्नि जिसे मै ग्रहण करता हूँ। उसके द्वारा समृद्धि, ऐश्वर्य, पवित्रता तथा पवित्र तेज की प्राप्ति के लिये अभिषिक्त होता हूँ।"

---

1. पारस्कर गृह्यसूत्र–2/1/8
2. पारस्कर गृह्यसूत्र- 2/6/8–10

अब ब्रह्मचारी विद्यार्थी कलशों के पवित्र जल से स्नान करता हुआ इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

आपो हिष्ठामयोभुवस्ता न ऽ ऊर्जे दधातन। महेरणाय चक्षसे।।[1]

तस्माऽअरंगमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः।।[2]

वस्तुतः ब्रह्मचारी का शरीर ब्रह्मचर्य की तपस्या से तप्त हो जाता है, उसमें जलस्नान से अग्नि को शांत करके शीतलता का संचार किया जाता है, जिससे गृहस्थ–जीवन में सरलता से प्रवेश कर सके। कलश के पवित्र जल से स्नानोपरांत ब्रह्मचारी विद्यार्थी अपने अध्ययन काल में प्रयुक्त होने वाले मृगचर्म, दण्ड, मेखला इत्यादि को जल (नदी) में विसर्जित कर देता है। विद्यार्थी को पुनः नवीन कौपीन वस्त्र धारण कराया जाता है। अब ब्रह्मचारी विद्यार्थी दधि एवं तिल से मिश्रित भोज्य पदार्थ को ग्रहण करने के उपरांत अपने शरीर में विकसित श्मश्रु, केश इत्यादि को नापित से कटवाता है एवं उदुम्बुर वृक्ष के दातुन से दन्तधावन करता हुआ इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

ऊँ अन्नाद्याय व्यूहध्व सोमो राजाऽयमागमत्।

स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन च।।[3]

अथार्त् "अपने को भोजन के लिये प्रस्तुत कर, यहाँ राजा सोम आया है। वह ऐश्वर्य एवं भाग्य के द्वारा मेरे मुख को शुद्ध करेगा।"[1] वस्तुतः ब्रह्मचारी विद्यार्थी भोजन एवं वाणी के विषय में संयमित होता है, परन्तु अब वह सांसारिक विषयों के उपभोग के लिये प्रवृत्त होता है। अब आचार्य, शिष्य को सुगन्धित द्रव्यों (केशरादि) का लेपन करके स्नान कराते हैं। इस कृत्य से विद्यार्थियों के इन्द्रियों को सांसारिक उद्देश्यों के लिये तृप्त किया जाता है। सुगन्धित द्रव्य के लेपन के समय इन्द्रियों की तृप्ति के निमित्त इस प्रकार मंत्रोच्चारण किया जाता है–

"ऊँ प्राणापानौ मे तर्पय। ऊँ चक्षुर्मे तर्पय। ऊँ श्रोतं मे तर्पय।"[4]

अर्थात् मेरे श्वॉस–निःश्वाँस को तृप्त कर, नेत्रों को तृप्त कर एवं कर्णों को भी तृप्त करो।[2] ब्रह्मचर्य जीवन में पुष्पमाला, आभूषण एवं रंजित वस्त्रों को धारण

---

1. शुक्लयजुर्वेद–11/50
2. शुक्लयजुर्वेद–11/52
3. पारस्कर गृह्यसूत्र–2/6/12
4. खादिर गृह्यसूत्र–3/1/9

करना निषिद्ध था। ब्रह्मचारी को 'समावर्तन' में वे समस्त सांसारिक वस्तुयें सीमित रूप में प्रदान की जाती है, जिसका प्रारम्भिक काल या ब्रह्मचर्य काल में पूर्णतः निषेध था, यथा—आभूषण, अंजन कर्णपूर, उष्णीष, छत्र उपानह एवं दर्पण आदि दिया जाता है। जीवन में सुरक्षा के निमित्त एक बॉस की छडी (दण्ड) भी प्रदान करते हैं। वस्तुतः आचार्य के द्वारा विद्यार्थी के प्रति किया गया सम्पूर्ण योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं बहुमूल्य है, इसका मूल्यांकन किसी भी वस्तु या धन से नही किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में ऐसा कथन है—

"सप्तद्वीपवती भूमिर्दक्षिणार्थं न कल्पते"।[1] अब आचार्य विद्यार्थी को सर्वोच्च सम्मान सूचक "मधुपर्क" प्रदान करते है। यह राजा, आचार्य जामाता, ऋत्विज् तथा प्रियजनों के लिये व्यवस्थित था।[2]

समावर्तन की पूर्णाहुति के अवसर पर विद्यार्थी, आचार्य को यथासामर्थ्य दक्षिणा प्रदान करते हैं। आचार्य स्नातक ब्रह्मचारी के दक्षिण हस्त में फल, पुष्प एवं घृतयुक्त स्रुवा को स्पर्श कराते हुये इस प्रकार मंत्रोच्चारण करते हैं—

ॐ मूर्धानं दिवोऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽआ जातमग्निम्।
कवि ঞ্জ सम्राजमतिथिं जनानामासन्नापात्रं जनयन्त देवाः।।[3]

अब अग्नि में पूर्णाहुति समर्पित करने के उपरांत आचार्य स्रुवा से यज्ञ—भस्म लेकर अनामिका के द्वारा अपने विविध अंगों में लगाते हुये इसप्रकार मंत्रोच्चारण करता है—

ॐ त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्।।[4]

अब विद्यार्थी भी उपर्युक्त मंत्रोच्चारण के साथ अपने विभिन्न अङ्गों में यज्ञ भस्म लगाता है, परन्तु ब्रह्मचारी विद्यार्थी मंत्रोच्चारण में 'तन्नो' के स्थान पर 'तत्ते' का उच्चारण करता है। इस प्रकार समावर्तन संस्कार के साथ ही विद्यार्थी जीवन समाप्त हो जाता है। इस कृत्य के उपरांत ज्ञान—सम्पन्न विद्यार्थी गृहस्थ जीवन में पदार्पण करता है।

---

1 तापनीय श्रुति—वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश—भाग—1—पृष्ठ 565
2. पारस्कर गृह्यसूत्र—1/3/1—2
3. शुक्लयजुर्वेद—7/24
4. शुक्लयजुर्वेद—3/62

समावर्तन संस्कार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

ब्रह्मचारी विद्यार्थी के वेदाध्ययन के उपरांत गृहस्थ जीवन में प्रवेश के पूर्व सम्पादित किया जाने वाला कृत्य 'समावर्तन संस्कार' कहा जाता है। समावर्तन संस्कार एक प्रकार का अविस्मरणीय संस्कार है, क्योंकि यह ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ जीवन के मध्य का सेतुबन्ध है। समावर्तन संस्कार के माध्यम से विद्यार्थी के अन्तःकरण में नैतिकता, सत्यता, सामाजिकता, दार्शनिकता एवं आध्यात्मिकता का संस्कार उत्पन्न किया जाता है। इस कृत्य के सम्पादन से विद्यार्थी गृहस्थ जीवन में आसक्त होकर भी नैतिकता एवं मानवता की वृत्ति को विस्मृत नही कर पाता है, प्रत्युत्ः 'वर्णाश्रम कर्त्तव्य' तथा 'पुरूषार्थ–चतुष्टय' का सतत् स्मरण करता है।

स्मृति एवं विस्मृति के सन्दर्भ में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक स्पियरमैन का कथन इस प्रकार है–"**Cognitive events by occurring establish dispositions which facilitate their recurrence**"[1]

उपर्युक्त परिभाषा के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि समावर्तन संस्कार के माध्यम से ज्ञानात्मक एवं अनुभूतिपूर्ण घटनायें विद्यार्थी के मस्तिष्क में संस्कार के रूप में स्थापित की जाती है, जिससे वह उन्हें पुनःस्मरण कर सके। मनोविज्ञान की भाषा में 'स्मृति चिन्हों को उद्दीप्त करने के अभाव को 'विस्मृति' कहते है।''[2] समावर्तन संस्कार के दिवस पर विद्यार्थी ब्रह्मचर्य की दिनचर्या में किये जाने वाले सभी कृत्यों को सम्पादित करने के उपरांत ब्रह्मचर्य जीवनोपयोगी सभी वस्तुओं को जल में विसर्जित कर देता है, परन्तु वह इस संस्कार के माध्यम से ब्रह्मचर्य जीवन के नैतिक आदेश को जीवन–पर्यन्त स्मरण

---

1. Speaimans. (शिक्षा मनोविज्ञान, डा0 एस0 एस0 माथुर–पृष्ठ–237)
2. सामान्य मनोविज्ञान–डा0 जे0 एन0–पृ0–197

करता है। ब्रह्मचर्य जीवन के आदर्शमूलक एवं यथार्थपरक् विचार से विद्यार्थी को गृहस्थ जीवन में मानसिक सुख–शांति एवं आरोग्यता की सम्प्राप्ति होती है।

इस कृत्य में ब्रह्मचारी विद्यार्थी को अलंकृत एवं सुसज्जित करके समाज में प्रस्तुत किया जाता है। विद्यार्थी भी आचार्य को समुचित दक्षिणा प्रदान करके गृहस्थ जीवन के लिये शुभाशीर्वाद प्राप्त करता है। इन समस्त कृत्य के सम्पादन से विद्यार्थी को आत्मिक् सुख, संतोष एवं आत्मविश्वास के परिपूर्णता की अनुभूति होती है। फलतः विद्यार्थी उत्तम मानसिक स्वास्थ्य के साथ गृहस्थ जीवन में शंखनाद करता हुआ प्रवेश करता है। मानसिक स्वास्थ्य के विषय में मनोविज्ञान का विचार भी अनुकरणीय है–**"Mental Hygiene is a Science that deals with the human welfare and pervade all fields of human relationship."**[1]

---

1. Crow & Crow Mental Hygiene-P. No. 4.

विवाह संस्कार

'विवाह संस्कार' हिन्दू–संस्कृति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। इस कृत्य को विश्व की लगभग सभी संस्कृतियों में किसी न किसी रूप में स्वीकार किया जाता है। तैत्तिरीय संहिता[1] एवं ऐतरेय ब्राह्मण[2] में 'विवाह' शब्द का उल्लेख किया गया है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में विवाह से सम्बद्ध उक्ति इस प्रकार है–

"इमौ वै लोकौ सहास्तां तौ वियन्तावभूतां विवाहं विवहावहै सह नावस्त्विति।"[3]

अर्थात् स्वर्ग एवं पृथ्वी में पहले एकता थी, परन्तु कालान्तर में वे पृथक्–पृथक् हो गये, तब उन्होंने कहा–आओ, हम लोग विवाह कर ले, हम लोगों में सहयोग उत्पन्न हो जाये।

ऋग्वेद में विवाह का उद्देश्य गृहस्थ होकर देवों के लिये यज्ञ करना एवं संतानोत्पत्ति करना है।[4] पति–पत्नी के कर्त्तव्य एवं विवाह के विषय में शतपथ ब्राह्मण इस प्रकार विचार व्यक्त करता है–

"अर्धोहवा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते असर्वो हि तावद् भवति। अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ तर्हि हि सर्वो भवति।"[5]

अर्थात् पत्नी, पति की अर्धांगिनी है, अतः जब तक व्यक्ति विवाह नहीं करता, जब तक सन्तानोत्पत्ति नहीं करता, तब तक वह अपूर्ण है। उपर्युक्त विवेचन से यह पूर्णतयः सुस्पष्ट होता है कि विवाह संस्कार का अभ्युदय स्थल संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। इसके उपरांत गृह्यसूत्र काल में विवाह संस्कार का स्वरूप अधिक विस्तृत हो गया।

---

1 तैत्तिरीय सहिता–7/2/87
2. ऐतरेय ब्राह्मण–27/5
3 ताण्ड्य ब्राह्मण–7/10/1
4. ऋग्वेद–10/85/36, 5/28/3, 5/3/2, 3/53/4
5 शतपथ ब्राह्मण–5/2/1/10, 8/7/2/3

वर–चयन

विवाह के अन्तर्गत वर–चयन भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। इस सन्दर्भ में आश्वलायन गृह्यसूत्र का कथन इस प्रकार है–"बुद्धिमते कन्यां प्रयच्छेत",[1] अर्थात् बुद्धिमान व्यक्ति को ही कन्यादान करना चाहिये। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के अनुसार श्रेष्ठ वर के लक्षण इस प्रकार है– "श्रेष्ठ कुल, सच्चरित्र, शुभ–गुण, ज्ञान एवं सुन्दर स्वास्थ्य"।[2] मनु के अनुसार उन व्यक्तियों से सम्बन्ध निर्मित नही करते हैं, "जहाँ पुत्रोत्पत्ति नहीं होती, जहाँ वेदाध्ययन नहीं होता, जिसके सदस्यों के शरीर में केश अधिक मात्रा में हो, जिसमें लोग क्षयरोग, अजीर्ण, मिर्गी, गलित एवं शुष्क कुष्ठ से पीड़ित हो।"[3] इस प्रकार विवाह संस्कार में वर चयन महत्त्वपूर्ण प्रसंग है।

वधू–चयन

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार "बड़े एवं चौड़े नितम्बों एवं कटियों वाली कन्यायें आकृष्ट करने वाली होती हैं"।[4] आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार "ऐसी कन्या से विवाह करना चाहिये जो बुद्धिमती, सुन्दर एवं सच्चरित्र हो, शुभ लक्षणों वाली एवं स्वस्थ हो"।[5] वधू पक्ष के सन्दर्भ में ऋग्वेद का कथन इस प्रकार है–

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारूगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः।।[6]

अर्थात् जिस प्रकार एक भ्रातृहीन स्त्री अपने पुरूष सम्बन्धी (पिता के कुल) के यहाँ वापस आ जाती है, उसी प्रकार उषा अपने सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करती है। अथर्ववेद के अनुसार भ्रातृहीन स्त्रियों के समान उन्हें गौरवहीन होकर बैठे रहना चाहिये"।[7] ऋग्वेद के अनुसार भ्रातृहीन पुत्री अपने पिता के घर में ही वृद्धा हो जाती हैं।[8]

---

1 आश्वलायन गृह्यसूत्र–1/5/2
2. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र–3/20
3. मनु–2/238, 3/63–65, 4/244, 3/6/7
4. शतपथ ब्राह्मण 1/2/5/16
5. आश्वलायन गृह्यसूत्र–1/5/3
6. ऋग्वेद 1/124/7
7. अथर्ववेद–1/17/1
8. ऋग्वेद–2/17/7

सामान्यतः ऋग्वेद में विवाह के सन्दर्भ में कोई स्पष्ट सिद्धान्त प्राप्त नही होता है, परन्तु विवाह–सम्बन्धित विवरण विभिन्न सूक्तों में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में विवाह के अन्तर्गत श्रेष्ठ वर के चयन के सन्दर्भ में ऐसा कथन है–

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण।

भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्।[1]

अर्थात् कितनी स्त्रियाँ पति–सम्पदा को ही पतिवरण मान लेती है, परन्तु जो स्त्रियाँ सुशील, स्वस्थ और श्रेष्ठ मानसिक भावनाओं से युक्त है, उन्हें इच्छानुकूल पति की प्राप्ति होती है।

वधू के सन्दर्भ में ऋग्वेद का कथन इस प्रकार है–

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।

गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि।[2]

अर्थात् पत्नी के लिये कहा जा रहा है कि आप पतिगृह की ओर प्रस्थान करे, आप गृहस्वामिनी एवं सबको नियंत्रण में रखने वाली है। वहाँ आप अपने विवेकपूर्ण वाणी का प्रयोग करे।

वधू की विशेषताओं से सम्बद्ध कुछ अन्य वर्णन भी ऋग्वेदस्थ मंत्र में इस प्रकार है–

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।

एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः।।[3]

अर्थात् आप सन्ततियुक्त होकर, स्वामी के साथ होकर अर्थात् एक प्राण एवं एक मन होकर अपना दाम्पत्य जीवन व्यतीत करे।

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।

सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं वि परितेन।।[4]

अर्थात् नववधू मंगल चिन्हों से सुशोभित हो, सभी लोग उसे शुभाशीष प्रदान करे।

---

1. ऋग्वेद–10/27/12
2. ऋग्वेद–10/85/26
3 ऋग्वेद–10/85/27
4. ऋग्वेद–10/85/33

पत्नी या स्त्री की महत्ता

वधू की महत्ता के विषय में ऋग्वेद का कथन इस प्रकार है–

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।

वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।।[1]

अर्थात् हे वधू! आप शान्तिदृष्टियुक्त, पति के निमित्त दुःखमुक्त एवं मंगलमयी हो, आप पशुओं के लिये हितकारी, सुविचारयुक्त, तेजस्वी, वीर प्रसविनी एवं देवों की उपासिका होकर कल्याणकारी हो। हमारे परिवार, परिजनों एव पशुओं के लिये कल्याणकारी हो।

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवां भव।

ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु।।[2]

अर्थात् हे वधू! आप गृह के सभी सदस्यों में महत्त्वपूर्ण है अर्थात् सम्राज्ञी है, आप सबके ऊपर स्वामिनी स्वरूपा है।

विवाह–अवस्था

ऋग्वेद में विवाह अवस्था के सन्दर्भ में सुस्पष्ट सिद्धान्त प्राप्त नही होता है। सामान्यतः ऋग्वेद में 1/126/6–7 संख्या के मंत्रो से ऐसा विदित होता है कि कन्यायें युवती होने के पूर्व ही विवाहिता होती थीं। कन्या के विवाह–अवस्था के सन्दर्भ में ऋग्वेद का एक अन्य कथन इस प्रकार है–

कियती योषा मर्यतोवधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण।

भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्।।[3]

अर्थात् जब कन्या सुन्दर एवं आभूषित होती थी, तो वह पुरूषों के समूह में अपना वर खोज लेती थीं। इससे यह स्पष्ट है कि कन्यायें तभी विवाह करती थीं जबकि उनका विवेक प्रौढ़ होकर उचित वर का मार्गदर्शन करता था।

---

1. ऋग्वेद 10/85/44
2. ऋग्वेद 10/85/46
3 ऋग्वेद–10/26/12

विवाह अवस्था का ऋग्वैदिक निर्णय यही कहा जा सकता है कि कन्यायें उसी समय विवाह करती थीं, जब वे पति–चयन करने में भली–भाँति सक्षम होती थीं। उपर्युक्त मंत्र के विवेचन करने से ज्ञात होता है कि कन्या के युवती होने पर ही विवाह करना चाहिये। सामान्यतः यह सीमा चौदह या सोलह वर्ष निर्धारित की जा सकती है।

मनु के अनुसार 30 वर्ष का पुरूष 12 वर्ष की कन्या एवं 24 वर्ष का पुरूष 8 वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है।[1]

"सामान्यतः वेदाध्ययन समाप्त होने के उपरांत अथवा वेद के किसी अंश के भी समापन के उपरांत पुरूष क्रमशः 12, 24, 36 या 48 वर्ष में विवाह कर सकते हैं।[2]

आपस्तम्ब गृहसूत्र के अनुसार युवती होने पर ही कन्या का विवाह करना चाहिये।[3] इसका समर्थन शांखायन गृह्यसूत्र भी करता है।[4]

विवाह संस्कार प्रक्रिया

संहिताओं में वैवाहिक कृत्य का सर्वप्रथम वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है। वैवाहिक कृत्य का वर्णन ऋग्वैदिक मंत्रों से सुस्पष्ट है–

"रैभ्यासीदनुदेयी नराशंसी न्योचनी।

सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम।।[5]

अर्थात् सूर्यकन्या के पाणिग्रहण के समय "रैभी" नामक ऋचाये उसकी सखी रूपा थीं एवं नराशंसी ऋचायें उसकी सेविकायें थीं। सूर्या का परिधान अतिशोभायमान था, जो कल्याणकारी ऋचाओं एवं मंत्रादि से परिष्कृत था।

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्।

द्यौर्भूमिः कोश आसीद्यदयात्सूर्या पतिम्।।[6]

1 मनु–9/94
2. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग –1–पृष्ठ 272
3 आपस्तम्ब गृह्यसूत्र–8/8–9
4. शाखायन गृह्यसूत्र–1/17/5
5. ऋग्वेद–10/85/6
6. ऋग्वेद–10/85/7

अर्थात् सूर्या जब पतिगृह के लिये प्रस्थान कर रही थी, उस समय श्रेष्ठ विचार उसके आच्छादन थें, वही नेत्रों के लिये श्रेष्ठ अंजन थें। द्युलोक एवं पृथिवी उसके कोषागार थें।

इस प्रकार ऋग्वैदिक ऋचाओं से वैवाहिक कृत्य का स्पष्ट निदर्शन प्राप्त होता है। वैवाहिक कृत्य कालान्तर में सूत्रग्रन्थों में अधिक विस्तृत एवं व्यवस्थित हो गया। आश्वलायन गृह्यसूत्र के कथनानुसार[1] "अग्नि के पश्चिम दिशा में चक्की तथा उत्तर–पूर्व दिशा में पानी का घड़ा रखकर वर को होम करना होता है, उस समय तक कन्या वर के दक्षिण हस्त को पकड़े रहती है। वर पश्चिमाभिमुख खड़ा होकर पूर्वाभिमुख कन्या के अंगुष्ठिका को पकड़कर इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।।[2]

अर्थात् "हे वधू! आप के हाथ को सौभाग्य–वृद्धि के लिये पकड़ रहा हूँ, मुझे, पति रूप में स्वीकार करके आप वृद्धावस्था पर्यन्त मेरे साथ रहना। भग, अर्यमा एवं पूषादेव ने मेरे निमित्त गृहस्थ धर्म का पालन करने के लिये आपको प्रदान किया है"। इसके उपरांत वर, कन्या के साथ अग्नि एवं कलश के दक्षिण दिशा से तीन बार प्रदक्षिणा करके कहता है–"मै अम (यह) हूँ तुम सा (स्त्री) हो, तुम सा हो और मै अम हूँ, मै स्वर्ग हूँ, तुम पृथिवी हो, मै साम हूँ ,तुम ऋक् हो। हम दोनो विवाह कर ले, हम सन्तान उत्पन्न करें। एक दूसरे को स्नेह करें, एक–दूसरे को समझते हुये हम लोग सौ वर्ष तक जीवित रहें।" अब अग्नि की प्रदक्षिणा कराते समय प्रस्तर पर वधू को पैर रखवाता हुआ वह कहता है" इस पर चढ़ो ,इसी के समान अचल रहो, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो, उन्हें कुचल दो।" इस कृत्य के अग्रिम क्रम में कन्या का भ्राता उसके अंजलि में घृत छिड़क

1. आश्वलायन गृह्यसूत्र–1/7/3–1/8
2. ऋग्वेद–10/85/36

कर भुना हुआ लावा दो बार छोड़ता है, जिसका गोत्र 'जमदग्नि' हो वह तीन बार छोड़ता है। अब वह हवि के अवशिष्ट घृत को भी गिरा देता है।

लाज–होम प्रक्रिया में वर, पुरोहित के निर्देशानुसार इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत स इमां देवो अर्यमा प्रेतो मुञ्चातु नामुतः स्वाहा। वरूणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत स इमां देवो वरूणः प्रेतो मुञ्चातु नामुतः स्वाहा। पूषणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत स इमां देवः पूषा प्रेतो मुञ्चातु नामुतः स्वाहा।[1]

इस प्रकार "लाजहोम" कृत्य में उपर्युक्त मंत्रों से कन्या के कल्याण अथवा विधिवत् विवाह सम्पादित होने के निमित्त क्रमशः अर्यमा, वरूण एवं पूषन् आदि देवताओं से प्रार्थना व्यक्त की जाती है।

अब भ्राता के द्वारा हाथ में गिराये गये लावों को कन्या अपने हाथों से फैला देती है, वस्तुतः लावा समृद्धि का प्रतीक है। ऐसा स्वीकार किया जाता है कि कन्या के दोनो हाथ सुची है। अब कन्या अग्नि के प्रदक्षिणा के बिना लावे से तीन आहुति पति के द्वारा मंत्रोच्चारण करने पर एवं चतुर्थ आहुति मौन रूप से समर्पित करती है। यह कार्य सूप को अपने अभिमुख करके करती है। "लाजहोम" कृत्य सम्पादित होने के उपरांत अब वर, वधू के दक्षिण शिखा–बन्धन को खोलते हुये इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

प्रत्वामुञ्चामिवरूणस्यपाशाद्येन त्वाबध्नात् सवितासुशेवः।
ऋतस्ययोनौसुकृतस्यलोकेऽरिष्टांत्वासहपत्यादधामि।।[2]

अर्थात् वर, वधू से कहता कि मै तुम्हे वरुण के बन्धन से मुक्त करता हूँ।

---

1. आश्वलाय नगृह्यमत्र व्याख्या–हरिदत्त–प्रथम अध्याय–पृ0 11
2. ऋग्वेद–10/85/24

अब वर, वधू का उत्तर केश–बन्ध खोलते हुए इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

प्रेतोमुञ्चामिनामुतः सुबद्धाममुतस्करम्।
यथेयमिन्द्रमीढ्वः सुपुत्रासुभगासति।।[1]

अर्थात् हे कन्ये! इस पितृकुल से आपको मुक्त करते है ,परन्तु पतिपक्ष से नही है ,पतिपक्ष से आपको सम्बद्ध कर रहा हूँ। हे कामनावर्षक इन्द्र! यह कन्या (वधू) सुसन्ततियुक्त एवं सौभाग्यवती हो।

'शिखा–बन्ध' को खोलने के उपरांत वर–वधू 'सप्तपदी' के अन्तर्गत उत्तर पूर्व दिशा में वैवाहिक जीवन के सुख–समृद्धि के निमित्त सात पग चलते हुये पुरोहित के निर्देशानुसार इस प्रकार मंत्रोच्चारण करते हैं–

"इष एकपद्यूर्जे द्विपदी रायस्पोषाय त्रिपदी मायोभव्याय चतुष्पदी प्रजाभ्यः पञ्चपद्यृतुभ्यः षट्पदी सखा सप्तपदी भव सा मामनुव्रता भव पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः इति"।[2]

अर्थात् सप्तपदी में पति, पुरोहित के निर्देशानुसार कहता है–प्रथम पग रस के लिये, द्वितीय पग शक्ति के लिये, तृतीय पग धन के लिये, चतुर्थ पग सुख–समृद्धि के लिय, पंचम पग सन्तान के लिये, षष्ठ पग ऋतुओं के लिये एवं सप्तम पग मित्र बनने के लिये रखो, तुम मेरी प्रिया बनो, हम बहुत से पुत्रों के साथ दीर्घायु हों।

अब आचार्य वर–वधू दोनो के सिर को एक साथ मिलाकर उनके ऊपर कलश से जल छिड़कते हैं। रात्रिकाल में वधू किसी वृद्धा स्त्री के साथ रहती है जिसके पति–पुत्रादि जीवित हों। वधू को अरून्धती तारा या सप्तऋषि–मण्डल को देखने के उपरांत अपना व्रत समाप्त करना चाहिये।

---

1. ऋग्वेद–10/85/25
2. आश्वलायन गृह्यमंत्र व्याख्या–हरिदत्त–अ0 1–पृ0–12

नवविवाहिता को यदि दूरवर्ती ग्राम में जाना हो, तो इस प्रकार मंत्रोच्चारण करें–

पूषात्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि।।[1]

नवविवाहिता यदि नाव से प्रस्थान करे ,तो इस मंत्र का उच्चारण करें–

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्।।[2]

अर्थात् नदी हमारे लिये कष्टदायी न हो, यह हमारे गन्तव्य तक पहुँचाये।
यदि विवाहिता रूदन करे ,तो इस प्रकार मंत्रोच्चारण करें–

जीवं रूदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनुप्रसितिं दीधियुर्नरः।
वामं पितृभ्योः य इदं समेरिरे मयः पतिभ्योः जनयः परिष्वजे।।[3]

इस प्रकार वधू का पति गृह–प्रस्थान करते समय विभिन्न प्रकार के ऋग्वैदिक एवं मांगलिक मंत्रों से वधू के कष्टों का निवारण करता है। अब पति– गृहप्रवेश के अवसर पर इस प्रकार मंत्रोच्चारण करते हैं–

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।

सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं वि परेतन।।[4]

अब दाराग्नि या विवाहाग्नि में लकड़ियाँ छोडकर पति–पत्नी समीप बैठकर अग्नि में इस प्रकार मंत्रोच्चारण के साथ आहुति देते हैं–

आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।।[5]
अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवकामा स्योना शंनोभव द्विपदे शं चतुष्पदे।।[6]

अर्थात् प्रजापति हमे सन्तान दें एवं वधू शान्तिदृष्टियुक्त तथा पति के लिये दुःखों से रहित मंगलदायी हो।

---

1 ऋग्वेद–10/85/26
2. ऋग्वेद–10/53/8
3 ऋग्वेद–10/40/10
4. ऋग्वेद–10/85/33
5 ऋग्वेद–10/85/43
6. ऋग्वेद–10/85/44

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।

दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि।।[1]

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।

ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।।[2]

अर्थात् हे इन्द्रदेव! आप इस स्त्री को सुसन्तानवती बनायें एवं परिवार में श्रेष्ठ स्थान प्रदान करें।

इस कृत्य के उपरांत पति दधि ग्रहण करता है एवं शेष दधि पत्नी को देता हुआ इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ।

सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ।[3]

अर्थात् सभी देवगण हम दोनों के हृदयों को परस्पर संयुक्त करें।

सम्पूर्ण वैवाहिक–कृत्य से निवृत्त होकर पति–पत्नी विवाह से तीन रात्रि–पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करने के उपरांत सुपात्र ब्राह्मणों को भोजन, वस्त्र इत्यादि प्रदान करके, अपने सुखी एवं समृद्ध दाम्पत्य जीवन के प्रारम्भ के लिये ब्राह्मणों से सुभाशीर्वाद प्राप्त करते हैं।

विवाह–कृत्य का संक्षिप्त विवरण

संक्षेप में विवाह कृत्य का क्रम इस प्रकार है–

1. वधू–वर गुण परीक्षा–विवाह कृत्य के अन्तर्गत सर्वप्रथम वर–वधू के गुणों की परीक्षा की जाती है।
2. वर–प्रेषण–कन्या के लिये वार्तालाभ हेतु जाया जाता है, इसका प्रमाण ऋग्वेद में 10/85/8–9 में प्राप्त होता है।
3. वाग्दान–इसमें विवाह सुनिश्चित किया जाता है। इसका वर्णन शांखायन गृह्यसूत्र–1/6/5–6 में प्राप्त होता है।

---

1. ऋग्वेद–10/85/45
2. ऋग्वेद–10/85/46
3. ऋग्वेद–10/85/47

4. मण्डप निर्माण – इसमें वैवाहिक–कृत्य के सम्पन्न होने का स्थान बनाते है। इसका प्रमाण पारस्कर गृह्यसूत्र 1/4 में उपलब्ध है।
5. नांदीश्राद्ध एवं पुण्याहवाचन–इसमें वैवाहिक–कृत्य के पूर्व देवपूजन एवं मांगलिक मंत्रों के जप से वैवाहिक पर्यावरण निर्मित करते हैं।
6. वधूगृहगमन–वर पक्ष के लोग वधू पक्ष के यहॉ प्रस्थान करते हैं। इसका प्रमाण शांखायन गृह्यसूत्र–1/12/1 से प्राप्त होता है।
7. मधुपर्क–वरपक्ष के वधूपक्ष के यहाँ पहुँचने पर उन्हें विशिष्ट मिष्ठान देते हैं। आपस्तम्ब 3/8 एवं बौधायन गृह्यसूत्र–1/2/1 में इसका वर्णन प्राप्त होता है।
8. स्नापन, परिधापन एवं सन्नहन–इस कृत्य में वधू को स्नान करा कर, उसके कटि भाग में धागा या कुश की रस्सी बाँधते हैं तथ नवीन वस्त्र धारण कराते हैं।
9. समश्रजन–वर एवं वधू दोनो को उबटन एवं सुगन्धित पदार्थ लगाया जाता है। शांखायन गृह्यसूत्र 1/12/5 इसका वर्णन करता है।
10. प्रतिसरबन्ध–इस कृत्य में वधू के हाथ में कंगन बॉधा जाता है।
11. वरवधू–निष्क्रमण–इस कृत्य में घर के अन्तः भाग से वर–वधू निकलकर बाहर मण्डप में आते हैं।
12. परस्पर समीक्षण–इस कृत्य में वर–वधू के मध्य में रखे गये वस्त्र को हटा लेने पर, वे एक–दूसरे को देखते हैं।
13. कन्यादान– इस कृत्य में कन्या का पिता या कोई ज्येष्ठ, उसे वर पक्ष को उत्तरदायित्त्व के साथ समर्पित करता है। पारस्कर गृह्यसूत्र 1/4 में इसका वर्णन प्राप्त होता है।
14. अग्निस्थापन एवं होम–इसमें अग्नि की स्थापना करके उसमें आज्यादि की आहुतियॉ प्रदान की जाती है।
15. पाणिग्रहण–इस कृत्य में वर–पक्ष अपने उत्तरदायित्त्व को स्वीकार करता हुआ कन्या के हाथ को ग्रहण है।

16. लाजहोम–इस कृत्य में कन्या अग्नि में लावे की आहुति देती है। आश्वलायन–1/7/7–13 में यह कहा गया है कि वर के द्वारा मंत्र पढ़ने पर कन्या तीन आहुतियाँ डालती है एवं चतुर्थ आहुति मौन रूप से प्रदान करती है।

17. अग्निपरिणयन–इस कृत्य में वर, वधू को लेकर अग्नि एवं कलश की प्रदक्षिणा करता है। प्रदक्षिणा के समय 'अमोऽहमस्मि' आदि मंत्र का उच्चारण करता है। इसकी व्याख्या शांखायन गृह्यसूत्र 1/13/4 करता है।

18. अश्मारोहण–इस कृत्य में वर, वधू को प्रस्तर पर चढ़ाता हुआ मंत्रोच्चारण करता है।

19. सप्तपदी–इस कृत्य में अग्नि के उत्तर–दिशा में वर–वधू सात पग विभिन्न मांगलिक मंत्रों के उच्चारण के साथ चलते हैं।

20. मूर्धाभिषेक–आश्वलायन गृह्यसूत्र 1/7/20 के अनुसार वर–वधू के सिर पर पवित्र जल छिड़का जाता है।

21. सूर्योदीक्षण–पारस्कर गृह्यसूत्र 1/8 के अनुसार वर–वधू सूर्य की ओर दृष्टिपात् करते हैं।

22. हृदयस्पर्श–इस कृत्य में मंत्र के साथ वर, वधू के हृदय को स्पर्श करता है। पारस्कर गृह्यसूत्र 1/8 में वर्णन प्राप्त होता है।

23. प्रेक्षकानुमंत्रण–इस कृत्य में नवविवाहित पति–पत्नी की ओर संकेत करके दर्शको को सम्बोधित किया जाता है।

24. दक्षिणादान–इस कृत्य में ब्राह्मणों एवं पुरोहितों को यथोचित दक्षिणा देने का विधान है।

25. गृहप्रवेश–वर–वधू मांगलिक मंत्रों के उच्चारण के साथ गृह में प्रवेश करते हैं।[1]

विवाह संस्कार के अन्तर्गत उपर्युक्त कृत्य के उपरांत क्रमशः गृहप्रवेशनीय–होम, ध्रुवारून्धती–दर्शन, आग्नेय–स्थालीपाक, त्रिरात्रव्रत, चतुर्थीकर्म, सीमान्तपूजन, हरगौरीपूजन, इन्द्राणीपूजन, तैल–हरिद्रारोपण, आर्द्राक्षतारोपण, मंगलसूत्र–बन्धन, उत्तरीयप्रान्त–बन्धन, एरिणीदान एवं देवकोत्थापन तथा मण्डपोद्वासन कृत्य के साथ विवाह पूर्णतः सम्पन्न हो जाता है।

---

1 धर्मशास्त्र का इतिहास–भाग–1–पी0वी0 काणे–पृष्ठ–303 से 306

विवाह संस्कार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

'विवाह संस्कार' में विद्यार्थी ब्रह्मचर्य जीवन का परित्याग करके परिणयसूत्र में आबद्ध होकर गृहस्थ जीवन का शुभारम्भ करता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य के अन्तःकरण में कुछ स्वाभाविक मूलप्रवृत्तियाँ होती हैं, यथा–भुभुक्षा, पिपासा, स्नेह, घृणा, कामुकता इत्यादि की प्रवृत्ति।[1] विवाह संस्कार के माध्यम से व्यक्ति की कामुकता की इच्छा भी परिपूर्ण हो जाती है, फलतः वह संतुलित मानसिक स्थिति में पहुँच जाता है। विवाह संस्कार के उपरांत स्त्री–पुरूष में भावनात्मक विकास (Emotional Development) प्रारम्भ हो जाता है। उन दोनों के मध्य स्नेह, सहानुभूति (Sympathy) समर्पण–भाव तथा आन्तरिक–अनुराग (Internal Affection) का विकास होता है। यदि व्यक्ति के जीवन में प्रेम, स्नेह, सहानुभूति, समर्पण–भाव, त्यागवृत्ति एवं परोपकार–वृत्ति का अभाव हो ,तो वह मानसिक रूप से अस्वस्थ हो जाता है। इस प्रकार विवाह–संस्कार से उत्पन्न होने वाला भावनात्मक प्रेम (Emotional Affection) व्यक्ति में आत्मसंतोष, सुखानुभूति, वात्सल्य एवं ममत्व का भाव उत्पन्न करता है, जिससे उसके मानसिक स्वास्थ्य में अभिवृद्धि होती है। आधुनिक मनोविज्ञान भी मानसिक स्वास्थ्य को इसप्रकार परिभाषित करता है–**"Mental Hygiene is a science that deals with the human welfare and pervade all fields of human relationship."**[2]

विवाह–संस्कार से व्यक्ति में भावनात्मक अनुराग के साथ–साथ मानव कल्याण एवं सामाजिकता का भाव भी विकसित होता है। विवाह संस्कार से उत्पन्न होने वाला सकारात्मक संवेग (Emotion) व्यक्ति के जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन उत्पन्न करता है, इससे मनुष्य भावनात्मक एवं सौहार्दपूर्ण व्यवहार के लिये विवश हो जाता है। संवेग (Emotion) के विषय में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक जेम्स का कथन इस प्रकार है–

---

1. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश –निर्मला शेरजंग
2. Crow & Crow, Mental Hygiene p-4.

"The bodily changes follow directly the perception of the exciting fact and that our feeling of the same changes as they occur in emotion."[1]

वैवाहिक–कृत्य में पति जब सौभाग्य–वृद्धि के लिये पत्नी का हाथ पकड़ते हुये मंत्रोच्चारण करता है, तो उस समय पत्नी के अन्तःकरण में गृहस्थधर्म के अनुपालन की तीव्र प्रेरणा उत्पन्न करता है अर्थात् मंत्रशक्ति एवं कर्मकाण्डीय कृत्य के माध्यम से गृहस्थ–धर्म के अनुपालन के हेतु वधू को प्रेरित (Motivate) करता है। पति, पत्नी के हस्त को पकड़ते हुये इस प्रकार मंत्रोच्चारण करता है–

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।।[2]

आधुनिक मनोविज्ञान भी प्रेरणा को जीवन्तता उत्पन्न करने वाली एक प्रकार की प्रबल मानसिक स्थिति स्वीकार करता है। प्रेरणा के सन्दर्भ में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक एन0एल0मन का कथन इस प्रकार है–**The terms motivation and motive refer to activation from with in the organism. Thus motivated behaviour is internally activated, or atleast modified by internal conditions. A motive therefore, is some internal activator or modifier."[3]**

विवाह–संस्कार में पति–पत्नी जब मंत्रोच्चारण के साथ अग्नि एवं कलश की प्रदक्षिणा करते हैं, तो इस कृत्य के माध्यम से उनके अन्तःकरण में गृहस्थ–जीवन एवं दाम्पत्य–जीवन के प्रति दृढ़ता या दृढ़–संकल्पभाव (Firm Determination) उत्पन्न किया जाता है। यह कार्य भी मंत्रशक्ति की प्रेरणा (Motivation) के आधार पर सम्भव हो पाता है। इस कृत्य के सम्पादन से

---

1. James (सामान्य मनोविज्ञान, जे0 एन0 सुमन, पृ0 137)
2 ऋग्वेद–10/85/36
3. N.L Munn, Psychology-P-137

पति–पत्नी आपसी सानिध्य का अनुभव करते हैं। विवाह संस्कार में 'सप्तपदी' क्रिया में मंत्रोच्चारण के साथ पति–पत्नी में वैवाहिक जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये मंत्रशक्ति के आधार पर ऐसी प्रेरणा उत्पन्न की जाती है, जिससे वे एक सुखद वैवाहिक जीवन का कर्त्तव्य–बोध कर सकें। 'कन्यादान' विवाह संस्कार का महत्त्वपूर्ण कृत्य है, इस कृत्य के सम्पादन के समय पिता का अन्तर्मन द्रवित हो जाता है , उस समय ऐसा मानसिक वातावरण स्वतः निर्मित हो जाता है, जिससे पति, पत्नी के समस्त आवश्यकताओं को अपने उत्तरदायित्त्व के रूप में स्वीकार करता हुआ पाणिग्रहण कृत्य सम्पन्न करता है। 'लाजहोम' कृत्य के माध्यम से पति–पत्नी में समृद्धि का भाव (Feeling of prosperity) उत्पन्न किया जाता है। विवाह–संस्कार के उपरांत पत्नी को पति के घर प्रस्थान करते समय किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कष्ट न हो, इसके निमित मांगलिक मंत्रों का उच्चारण किया जाता है। वस्तुतः पति के गृह प्रस्थान करते समय वधू अत्यधिक मानसिक कष्ट एवं दुःख की स्थिति में होती है ,उस समय वैदिक मंत्रोच्चारण से उसके अन्तःकरण में आत्मविश्वास (self confidence) एवं मस्तिष्कीय परिवर्तन उत्पन्न किया जाता है। पत्नी जब गृहप्रवेश करती है, तो सामान्यतः उसके अन्तः में भय का संवेग (Emotion of fobia) रहता है। नववधू के भय का निवारण ऋग्वैदिक मंत्रोच्चारण एवं उसके अनुरूप नियम का अनुपालन करने से स्वतः हो जाता है। नववधू के गृहप्रवेश के समय इस प्रकार मांगलिक मंत्र का उच्चारण करते हैं–

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।।[1]

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार "भय के संवेग के निवारण हेतु व्यक्ति में समाप्त हुये आत्मविश्वास को पुनर्जागृत किया जाता है"।[2] विवाह–संस्कार

1. ऋग्वेद–10/85/46
2. शिक्षा मनोविज्ञान–डा० एस० एस० माथुर पृष्ठ–80

पति–पत्नी के व्यक्तित्त्व के विकास (Personality Development) में अत्यन्त उपयोगी धार्मिक एवं सामाजिक कृत्य है। व्यक्तित्त्व (Personality) व्यक्ति के जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। व्यक्तित्त्वहीन व्यक्ति एक असंतुलित व्यक्ति है। व्यक्तित्त्व के विषय में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक थोर्पी का कथन इस प्रकार है–

"Personality is balance"[1]

"Personality is the dynamic organization within the individual of these psycho-physical systems that determine his unique adjustment to his environment."[2]

इसप्रकार 'विवाह संस्कार' पति–पत्नी के शारीरिक एवं मानसिक सद्‌गुणों के विकास के साथ–साथ उनमें व्यावहारिक सामंजस्य भी स्थापित करता है, जिससे दाम्पत्त्य–जीवन का सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व सरलता से विकसित होता है। इसप्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवाह–संस्कार गृहस्थ–आश्रम का जीवनोपयोगी कृत्य है।

---

1. सामान्य मनोविज्ञान–जे0 एन0 सुमन–पृ0 265
2. Allpoit, peisonality : A Psychological Interpretation, 1957, p- 48.

अन्त्येष्टि संस्कार

यह कृत्य मानव जीवन के अन्तिम संस्कार के रूप में स्वीकृत है। व्यवित के मृत्यु होने के उपरांत इस संस्कार का आयोजन किया जाता है। अन्त्येष्टि संस्कार का बीज ऋग्वेद से ही प्रस्फुटित होता है। मृत्यु के उपरांत व्यक्ति को क्रव्यादग्नि में प्रज्वलित किया जाता है। क्रव्यादग्नि का वर्णन ऋग्वैदिक मंत्रों में इस प्रकार है–

मैनमग्ने विदहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।
यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात्पितृभ्यः।।[1]

अर्थात् हे अग्निदेव! इस मृतात्मा को पीड़ित किये बिना अंत्येष्टि संस्कार सम्पन्न करें।

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परि दत्तात्पितृभ्यः।
यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति।।[2]

अर्थात् हे अग्नि देव! आप इस मृत शरीर को पूर्णरूपेण दग्ध करें।

कालान्तर में अन्त्येष्टि संस्कार ऋग्वैदिक काल से गृह्यसूत्र काल में व्यापक स्वरूप में प्रचलित हो गया।

अन्त्येष्टि संस्कार के सन्दर्भ में बौधायन पितृमेधसूत्र का कथन इस प्रकार है–

"जातसंस्कारेणेमं लोकमभिजयति मृतसंस्कारेणामुंलोकम्"।[3]

"अर्थात् जन्म के उपरांत सम्पन्न होने वाले संस्कार से व्यक्ति भौतिक जगत् की सुख–समृद्धि प्राप्त करता है तथा अंत्येष्टि संस्कार से पारलौकिक सुख–समृद्धि प्राप्त करता है"। हिन्दूधर्म में अंत्येष्टि संस्कार एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृत्य स्वीकार किया जाता है। मृतक व्यक्ति से उसके सम्बन्धियों को अत्यन्त स्नेह रहता है, इसीलिये उसके औपचारिक विदायी का सम्बोधन इस प्रकार किया जाता था–

"प्रेहि प्रेहि पथिभिः"।[4]

अर्थात् मृतक व्यक्ति को विदा होने के लिये कहा जाता था। मृतक एवं जीवित व्यक्ति के मध्य सीमा के सन्दर्भ में ऋग्वेद का कथन इस प्रकार है–

"यदा श्रृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्रहिणुतात् पितृभ्यः।"[5]

---

1. ऋग्वेद–10/16/1
2. ऋग्वेद–10/16/2
3 बौधायन पितृमेधसूत्र– 3.1 4
4. अथर्ववेद–18/1/54
5. ऋग्वेद–10/16/1

सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि मृतक व्यक्ति के अंतिम संस्कार से जीवित सम्बन्धियो की मरणाशौच से पवित्रता होती है एवं मृतात्मा को परमशाति प्राप्त होती है। डा0 राजबलि पांडे के कथनानुसार "अन्त्येष्टि क्रियायें यूनान एवं मिश्र में भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी जितनी की हिन्दुओं में"।[1] अन्त्येष्टि क्रिया का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद एवं अथर्ववेद[2] में प्राप्त होता है, यथा–

"ये निखाता ये परीप्ता ये दग्धा ये चोद्धिता।"[3]

"हिन्दू दाहक्रिया को और्ध्वदैहिक–कृत्य अर्थात् स्वर्ग की ओर गति के लिये आत्मा को शरीर से मुक्त करने वाली क्रिया कहते हैं। दाहक्रिया के बिना मृतात्मा अपने भूतपूर्व स्थान की परिक्रमा करता रहता है, बिना सान्त्वना के कष्ट पाता तथा प्रेत के रूप में महान संकट से ग्रस्त रहता है, ऐसी सामाजिक मान्यता है।"[4]

इसप्रकार दाहक्रिया ,मात्र एक संस्कार ही नहीं, प्रत्युत् मृतात्मा के कष्ट–मुक्ति का मार्ग है।

अन्त्येष्टि संस्कार प्रक्रिया

अथर्ववेद (7/53) के निर्देशानुसार सामान्यतः किसी व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसे पुनर्जीवित करने का प्रयास किया जाता था, जब सफलता प्राप्त नहीं होती थी, तब अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की जाती थी। अन्त्येष्टि कृत्य में मृतक व्यक्ति का सिर उत्तर दिशा एवं पॉव दक्षिण दिशा में कर दिया जाता है। उसके कर्ण एवं नेत्रों में घृत डाल देते हैं अब उसे स्नानादि कराकर, स्वच्छ वस्त्र धारण कराकर, अर्थी इत्यादि की क्रियायें सम्पन्न की जाती है। मृतक का पुत्र क्षौर–स्नान एवं स्वच्छ वस्त्र धारण करके अन्त्येष्टि कर्म सम्पादित करता है। शव के दक्षिणी ओर बैठ कर पिण्ड समर्पित किया जाता है, शव के विभिन्न स्थानों पर पिण्ड रखा जाता है। अब शव को विधि–विधान से श्मशान भूमि पर ले

---

1. हिन्दू सस्कार डा0 राजबलि पाडे–पृष्ठ–299
2 ऋग्वेद–1/2/3–4
3 अथर्ववेद–18/2/34
4. हिन्दू संस्कार–डा0 राजबलि पांडे पृष्ठ–307

जाया जाता है। शवयात्रा में मृतक के स्वजन, परिजन एवं अन्य सामाजिक सहृदयता रखने वाले लोग होते हैं। चिता की भूमि पर पवित्र जल छिडकर इस प्रकार मंत्रोच्चारण से भूमि शुद्ध करते हैं–

ऊँ शुद्धवालः सर्वशुद्धवालो मणिवालस्तऽआश्विनाः श्येतः श्येताक्षोऽरूणस्ते रूद्राय पशुपतये कर्णायामाऽअवलिप्ता रौद्रा नभोरूपाः पार्जन्याः।[1]

अब शवदाह के निमित्त लकड़ियों का भी पवित्रीकरण करके 'चिता' का निर्माण किया जाता है। 'चिता' के चारो ओर समिधा वेदी सांकेतिक रूप में रखी जाती है। चिता पर शव को रखने के पूर्व शव के जलस्नान के निमित्त इस प्रकार मंत्रोच्चारण करते हैं–

आपो हिष्ठामयोभुवस्ता न ऽ ऊर्जे दधातन। महेरणाय चक्षसे।। यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः।। तस्माऽअरंगमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः।।[2]

अब शव के पूर्णतयः पवित्र हो जाने के उपरांत उसे दाह कर्म हेतु चिता पर श्रद्धापूर्वक रखा जाता है, उस समय इस मंत्र का उच्चारण किया जाता है–

ऊँ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानिदेव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम्।।[3]

अब शव के ऊपर लकड़ियों से शरीर को आवृत कर दिया जाता है, शव के शीर्ष भाग की पवित्र भूमि पर "ऊँ क्रव्यादाय नमः" कहकर क्रव्यादग्नि प्रज्वलित करते हैं एवं चिता पर अग्नि को रखते हुये इस प्रकार मंत्र का उच्चारण करते हैं–

ऊँ भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पथिवीव वरिम्णा।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे।।[4]

पुनः चिता पर अग्नि रखते हुऐ इस प्रकार मंत्रोच्चारण करते हैं–

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे। देवाँ आ सादयादिह।।[5]

---

1. शुक्लयजुर्वेद–24/3
2. शुक्लयजुर्वेद–11/50–52
3 शुक्लयजुर्वेद–5/36
4. शुक्लयजुर्वेद–3/5
5. शुक्लयजुर्वेद–22/17

अब अग्नि में सप्त आहुतियाँ प्रदान की जाती है, इसके उपरांत तीनों महाव्याहृतियों की भी आहुति दी जाती है। मृतक शरीर के प्रत्येक अंगों की तृप्ति के लिये भी आहुतियाॅ दी जाती है। जब शव पूर्णतः अग्नि में समाविष्ट होकर सम्यक् भस्म होता रहता है अर्थात् लगभग शवदाह हो जाता है, तब 'कपाल क्रिया ' अथवा 'मस्तक भेदन' का कृत्य किया जाता है। दाह--कृत्य में अन्तिम आहुति–स्वरूप घृत एक धारा के रूप में चिता पर इस प्रकार मंत्रोच्चारण के साथ गिराते हैं–

ऊँ वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसिसहस्रधारम। देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः स्वाहा।।[1]

दाह–कृत्य के उपरांत शव की अस्थियों एवं भस्म को पवित्र जल में विसर्जित कर देते हैं। अब दाह कर्म करने वाला व्यक्ति नदी में जलस्नान करके स्वयं को पवित्र करता है। स्नानोपरांत स्वच्छ वस्त्र धारण करके मृतात्मा को तिलांजलि प्रदान करके अपने गृह की ओर प्रस्थान करते हैं। शवदाह कृत्य के उपरांत एवं दाहकर्त्ता के पवित्र हो जाने पर हिन्दू–संस्कार के अनुसार 'त्रयोदशाह' कर्म भी किया जाता है, इस कर्म के पूर्व दाहकर्त्ता एक संनियमित विधि–विधान से मृतात्मा के सद्गति के लिये तर्पण एवं पिण्डदान भी करता है। अन्ततोगत्वा त्रयोदशाह कृत्य किया जाता है, जिसमें आत्मा के सद्गति के लिये ब्राह्मण–भोज होता है एवं उन्हें यथोचित् दक्षिणा प्रदान करके मृतात्मा को सद्गति प्रदान करते हैं।

1. शुक्लयजुर्वेद–1/3

अन्त्येष्टि संस्कार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

अंत्येष्टि संस्कार मृतक व्यक्ति के दाहकर्म एवं उसके उपरांत शुद्धि का प्रतीक है। अंत्येष्टि संस्कार के पूर्व सभी संस्कार मनुष्य के जीवन में सुख–समृद्धि उत्पन्न करने से सम्बद्ध है, परन्तु व्यक्ति की मृत्यु एवं उससे सम्बद्ध संस्कार एक हृदय विदारक घटना है। सामान्यतः किसी गृहस्थ की मृत्यु हो जाने पर परिवार के अन्य सदस्यों के अन्तःकरण में 'तीव्र संवेगात्मक भाव' (Acute Emotional feeling) या आघात का संवेग उत्पन्न होता है। मृत्यु का शोक व्यक्ति तभी विस्मृत कर सकता है, जबकि उसके अन्तःकरण में आत्मसंतोष एवं सुरक्षा का भाव उत्पन्न हो। हिन्दू–संस्कृति में मृतक के परिवार के सदस्यों एवं उसके स्वजनों में आत्मविश्वास के भाव का संचार करने वाली उक्ति इस प्रकार है–

"जातसंस्कारेणेमं लोकमभिजयति मृतसंस्कारेणामुंलोकम्"।[1]

सामान्यतः ऐसी मान्यता है कि अन्त्येष्टि संस्कार से व्यक्ति को परलोक का सुख प्राप्त होता है। इसी अवधारणा को स्वीकार करके अन्त्येष्टि संस्कार सम्पन्न करने वाला मृतक का स्वजन आत्मसंतोष (Self satisfaction) एवं मानसिक–शांति (Mental peace) का अनुभव करता है। मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है कि संवेगात्मक–स्थिति (Emotional Situation) में व्यक्ति की मानसिक एवं शारीरिक परिस्थिति वाह्य–पर्यावरण के अनुसार प्रभावित होती है। संवेगात्मक भाव के सन्दर्भ में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक पी० टी० यंग का कथन इस प्रकार है– **"An acute disturbance of the individual as a whole psychological in origin, involving behaviour, Conscious experience and visceral functioning."**[2] वस्तुतः अन्त्येष्टि संस्कार के माध्यम से दाहकृत्य सम्पन्न करने वाले व्यक्ति का मानसिक आघात समाप्त हो

---

1. बौधायन पितृमेधसूत्र–3/1/4
2. P T. Young, Emotion in Man and Animal-1943 Page no-60

उपसंहार
UNIVERSITY OF ALLAHABAD
QUOT RAMI TOT ARBORES
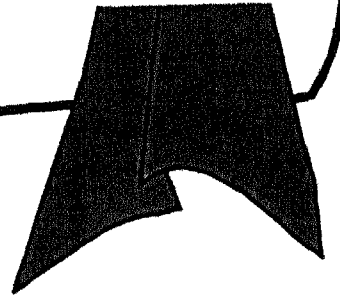
जाता है, क्योंकि वह ऐसा अनुभव करता है कि मृतक व्यक्ति को अब परलोक अर्थात् स्वर्ग का सुख प्राप्त होगा। मनोविज्ञान इसे आत्मसंतोष (Self satisfaction)[1] के रूप में स्वीकार करता है। मृतक व्यक्ति के स्वजन का 'चित्त विकार' (Anxiety neurosis) शनैः–शनैः अन्त्येष्टि संस्कार के सिद्धान्त–मूलक तत्त्वों एवं उसके कृत्य के कारण समाप्त हो जाता है। शवदाह–कृत्य के उपरांत मृतात्मा के लिये जलतर्पण, पिण्डदान, ब्राह्मण–भोज एवं दक्षिणा प्रदान करता हुआ मृतक का स्वजन पूर्णतः संतुलित मानसिक स्थिति में आ जाता है, जिससे मृत्यु का मानसिक–शोक समाप्त हो जाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अन्त्येष्टि संस्कार विभिन्न प्रकार के मनोरोगों, यथा–Anxiety neurosis (चित्तविकार), Frustration (कुंठा) Phobia (भय), Neurosity (स्नायुरोग)[2] इत्यादि से मुक्ति प्रदान करता है। मानसिक व्याधियों से मुक्त व्यक्ति ही मानसिक रूप से स्वस्थ कहा जा सकता है। मानसिक स्वास्थ्य के विषय में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक हेडफिल्ड का कथन इस प्रकार है–"**Mental Hygiene is "concerned with the maintenance of mental health & prevention of mental disorders"**[3]

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'अन्त्येष्टि संस्कार' मृतक व्यक्ति के स्वजनों एवं सामान्य जनमानस को मानसिक जीवन्तता प्रदान करने वाला अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्कार है।

1 मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश–निर्मला शेरजंग
2. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश–निर्मला शेरजंग
3 हेडफिल्ड–शिक्षा मनोविज्ञान–डा० एस० एस० माथुर–पृष्ठ–375

उपसंहार

वैदिक कर्मकाण्ड मानव जीवन के भौतिक सुख–समृद्धि एवं आध्यात्मिक उन्नयन के साथ–साथ उसके सर्वांगीण विकास में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करता है। वैदिक कर्मकाण्ड के अन्तर्गत श्रौतकर्मकाण्ड एवं गृह्यकर्मकाण्ड व्यक्ति के भौतिक, सामाजिक, शैक्षिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक अभ्युन्नति से सम्बद्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं पवित्र कृत्य है।

दर्शपूर्णमास एवं चातुर्मास्य यज्ञ सम्पादित करके मनुष्य अक्षुण्ण भौतिक सुख–समृद्धि प्राप्त करता है। यजमान सपत्नीक यज्ञ सम्पादित करके स्वर्गलोक की सुख–समृद्धि प्राप्त करता है, इस सन्दर्भ में ऐतरेय ब्राह्मण का कथन इस प्रकार है–

श्रद्धा पत्नी सत्यं यजमानः श्रद्धा सत्यं तदित्युत्तमं मिथुनम्।
श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गाल्लौकान् जयतीति।।[1]

भौतिक सुख–समृद्धि के विषय में शतपथ ब्राह्मण स्त्री–सौन्दर्य का महत्त्वपूर्ण प्रसंग प्रस्तुत करता है–

"एवमिव हि योषं प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिर्विमृष्टान्तरांसा मध्ये संग्राह्येति।"[2] अर्थात् "स्त्री का शरीर स्थूल, जघन, कन्धों के मध्य वक्षस्थल का भाग जघन के अपेक्षा कम स्थूल तथा हस्तग्राह्य मध्यभाग होना चाहिये"। ऐसी ही रमणीय स्त्री से वैदिक काल में पुरूष परिणय सम्बन्ध स्थापित करके श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त करता था। वस्तुतः हविर्याग परम्परा में आग्रायण इष्टि, पशुबन्ध, सौत्रामणी एवं पितृयज्ञ के सम्पादन से यजमान अपने जीवन से सम्बद्ध समस्त प्रकार के भौतिक सुख–समृद्धि एवं आनन्द की सम्प्राप्ति करता है। सोमयाग के अन्तर्गत विद्यमान वाजपेययाग, राजसूययाग एवं अश्वमेधयाग यजमान को सम्पूर्ण पृथिवी का राजसिक सुख एवं स्वर्गलोक का आनन्द प्रदान करता है। शतपथ ब्राह्मण का कथन इस प्रकार है–"राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति सम्राड् वाजपेयेन"।[3]

1. ऐतरेय ब्राह्मण–7/10
2. शतपथ ब्राह्मण–1/2/5/16
3. शतपथ ब्राह्मण–5/1/1/13

गृह्यकर्मकाण्ड के अन्तर्गत वैदिक एवं सूत्रग्रन्थों से सम्बद्ध 'षोडश संस्कार' में 'गर्भाधान' एवं 'विवाह संस्कार' मानव जीवन में सुख–समृद्धि एवं आनन्द की अभिवृद्धि करते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में व्यक्ति के जीवन में शिक्षा या ज्ञान को मनुष्य के सर्वांगीण विकास का महत्त्वपूर्ण कारक स्वीकार किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति को 'देव' की संज्ञा प्रदान की गयी है–

"ये ब्राह्मणाः शुत्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः।
विद्वांसो ही देवाः।"[1]

गृह्यकर्मकाण्ड के अन्तर्गत भी बालक के 'उपनयन संस्कार' एवं वेदाध्ययन' को जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकरण स्वीकार किया गया है। "वेदाध्ययन के महत्त्व के विषय में इस प्रकार का कथन है–

यच्छाखीयैस्तु संस्कारैः संस्कृतो ब्राह्मणो भवेत्।
तच्छाखाध्ययनं कार्यमेवं न पतितो भवेत्।।[2]

वैदिक कर्मकाण्डों से सामाजिकता एवं नैतिकता का भाव भी विकसित होता है। गृह्यकर्मकाण्ड में प्रयुक्त होने वाला 'पञ्चमहायज्ञ' नैतिकता एवं मानवता का उच्च आदर्श प्रस्तुत करता है। 'पञ्चमहायज्ञ' में सभी जीव–जन्तुओं एवं अतिथियों के सत्कार का निर्देश दिया गया है। पञ्चमहायज्ञ के अन्तर्गत 'ब्रह्मयज्ञ' एवं 'देवयज्ञ' से गृहस्थ प्राणियों में नैतिकता का उच्च आदर्श विकसित होता है। आतिथ्य के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण का कथन इस प्रकार है–

"शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद् आतिथ्यम्"।[3]

ब्राह्मण ग्रन्थ में स्त्री के सम्मान से भी सामाजिकता का भाव प्रकट होता है। इस सन्दर्भ में तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन इस प्रकार है–

"अयज्ञो वा एषो योऽपत्नीक"[4]

अर्थात् पत्नी शरीर का आधा भाग होती है।

---

1 शतपथ ब्राह्मण–3/7/3/10, 2/2/2/6
2 वशिष्ठ, वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश–भाग-1- पृष्ठ-338 पर उद्धृत
3. ऐतरेय ब्राह्मण–1/25
4. तैत्तिरीय ब्राह्मण–2/2/2/6

वैदिक कर्मकाण्ड में मानसिक विकास को एक महत्त्वपूर्ण विषय के रूप मे स्वीकार किया गया है। शुक्लयजुर्वेदीय शिवसंकल्पसूक्त को मानसिक विकास का प्रमुख कारक स्वीकार किया जाता है। शिवसंकल्पसूक्त मे मन के विकास से सम्बद्ध वर्णन इस प्रकार है–

यस्मिन्नृचः साम यजू षि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्त सर्वमोतं प्रजानां तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु।।[1]

अथर्ववेद ने याज्ञिक कृत्यों में मानसिक शक्तियों के अनुप्रयोग को इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्।।[2]

गृह्यकर्मकाण्डों के अन्तर्गत ब्रह्मयज्ञ, उपनयन एवं वेदाध्ययन से मनुष्य मानसिक विकास के क्रम में देवसदृश हो जाता है। वैदिक कर्मकाण्डों के अनुप्रयोग से मानव जीवन के आध्यात्मिक उन्नयन का मार्ग भी प्रशस्त होता है। 'पुरूषार्थ चतुष्टय' का अंतिम लक्ष्य मनुष्य के आध्यात्मिक उन्नयन या मोक्ष से सम्बद्ध है। ब्राह्मण ग्रन्थ में यज्ञ को श्रेष्ठतम् कर्म स्वीकार किया गया है–

"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।"[3]

यज्ञ से ही सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुयी है एवं यज्ञकर्म से मनुष्य जन्म–जन्मान्तर के पापों से मुक्त हो जाता है। पाप–विमुक्ति के सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण का कथन इस प्रकार है–

"सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति"।[4]

अर्थात् अग्निहोत्र यज्ञ के अनुष्ठान से मनुष्य समस्त प्रकार के पाप से मुक्त हो जाता है। पाप–विमुक्ति एवं आध्यात्मिक अभ्युन्नति के सन्दर्भ में गोपथ ब्राह्मण का कथन इस प्रकार है–

तद् यथाहिर्जीर्णायास्त्वचो निर्मुच्यते इषीका वा मुञ्जात्।
एवं हवै ते सर्वस्मात् पाप्मनः समुच्यन्ते ये शाकलां जुँ ति।।[5]

---

1. यजुर्वेद– 34/5
2. अथर्ववेद–6/41/1
3 शतपथ ब्राह्मण–1/7/3/5
4. शतपथ ब्राह्मण–2/3/1/6
5 गोपथ ब्राह्मण, उत्तर, 4/6

भव–चक्र से मुक्ति के निमित्त शतपथ ब्राह्मण का कथन इस प्रकार है–

" ह वै पुनर्मृत्युंमुच्यते य एवमेतामग्निहोत्रे मृत्योरतिमुक्तिं वेद।"[1]

"येन यजमानः पुनर्मृत्युमपजयतीत्यग्निर्वाऽएष देवता भवति योऽअग्निं विनुते।"[2]
आध्यात्मिक ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति सांसारिक दु:ख भोग से सदैव के लिये मुक्त हो जाता है, परन्तु अज्ञानी अर्थात् वैदिक कर्मकाण्ड में अभिरूचि न रखने वाला मनुष्य भव–चक्र में सदैव पड़ा रहता है। इस सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण का कथन इस प्रकार है–"ये वैतत्कर्म कुर्वते मृत्वा पुनः सम्भवन्ति ते सम्भवन्तऽ एवामृतत्वमभिसम्भवन्त्यथ यऽएवं न विदुर्ये वैतत्कर्म न कुर्वते मृत्वा पुनः सम्भवन्ति तऽएतस्यैवान्नं पुनः पुनर्भवन्ति।"[3]

इस प्रकार वैदिक कर्मकाण्डों के माध्यम से मनुष्य को भौतिक सुख–समृद्धि, शैक्षिक–अभ्युन्नति, सामाजिक–सुख, मानसिक–सन्तुष्टि एवं आध्यात्मिक लक्ष्य की सम्प्राप्ति होती है।

प्रस्तुत शोध–ग्रन्थ में वैदिक कर्मकाण्डों के मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि आधुनिक मनोविज्ञान के मानसिक क्षेत्र से सम्बद्ध मूलाधार विषय वैदिक कर्मकाण्डों के अन्तर्गत प्रायोगिक रूप में विद्यमान हैं। आधुनिक मनोविज्ञान के मूलाधार या मुख्य विषय–वस्तु को भूमिका में ही प्रस्तुत किया गया है। संक्षेप में आधुनिक मनोविज्ञान के मुख्य तत्त्व इस प्रकार हैं–"संवेदना (Sensation), प्रेरणा (Motivation), प्रत्यक्षीकरण (Perception), स्मृति (Remembering), विस्मरण (Forgetting), अवधान (Attention), कल्पना (Imagination), चिंतन (thinking) इत्यादि।[4] शतपथ ब्राह्मण भी विभिन्न मानसिक शक्तियों का वर्णन इस प्रकार करता है–
"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिः ह्रीः धीः भीः इत्येतत् सर्वं मन एव"।[5]

---

1. शतपथ ब्राह्मण–2/3/3/9
2. शतपथ ब्राह्मण–10/1/4/14
3. शतपथ ब्राह्मण–10/4/3/10
4. मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश ,निर्मला शेरजंग
5. शतपथ ब्राह्मण–14/4/3/9

सामान्यतः धारणा, संवेदना, प्रेरणा, प्रत्यक्षीकरण, चिंतन, कल्पना, स्मरण इत्यादि मानसिक तत्त्वों के आधार पर ही देवताओं एवं वैदिक ऋषियों के मध्य पारस्परिक–सम्बन्ध (Interpersonal Relationship) स्थापित होता है। वस्तुतः मंत्र–शक्ति को ही उपर्युक्त सभी मानसिक शक्तियों के सम्प्राप्ति का महत्त्वपूर्ण साधन स्वीकार किया जा सकता है। सम्यक् चिंतन से यह ज्ञात होता है कि धारणा, संवेदना, प्रेरणा इत्यादि मानसिक शक्तियों के अभाव में यजमान अपने आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता है, क्योंकि अथर्ववेद मे इन्ही मानसिक शक्तियों को प्रबुद्ध करने के लिये ईश्वर को हवि प्रदान की जाती है। मानसिक शक्ति के विकास से सम्बद्ध वर्णन इस मंत्र में सुस्पष्ट है–

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्।।[1]

वैदिक कर्मकाण्डों में हविर्याग, सोमयाग, पञ्चमहायाग, संस्कार कृत्य एवं अन्य विशिष्ट यागादिक अनुष्ठानों के माध्यम से अनुकूल मानसिक शक्तियों का विकास किया जाता है, जिससे स्वस्थ एवं संतुलित मानसिक स्वास्थ्य का निर्माण होता है। संतुलित मानसिक स्थिति से उत्तम स्वास्थ्य का निर्माण होता है। स्वस्थ एवं संतुलित मानसिक स्थिति में ही मनुष्य आत्मा, परमात्मा, जीवन, जगत् एवं मोक्ष आदि गुह्य विषयों का चिंतन कर सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान मानसिक स्वास्थ्य को मानव जीवन का महत्त्वपूर्ण एवं अविभाज्य अंग स्वीकार करता है। मानसिक स्वास्थ्य के विषय में प्रख्यात् मनोवैज्ञानिक क्रो एण्ड क्रो का कथन इस प्रकार है–**"Mental Hygiene is a Science that deals with the human welfare and pervade all fields of human relationship"**[2]

वैदिक कर्मकाण्डों के मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि सम्यक् मानसिक चिंतन के फलस्वरूप कर्मकाण्डों की रचना हुयी है, इसीलिये वैदिक यज्ञानुष्ठान मनोवैज्ञानिकता से परिपूर्ण हैं। इस प्रकार श्रौतयज्ञ एवं गृह्ययज्ञ (वैदिक कर्मकाण्ड) को सम्पादित करने से मनुष्य के अन्तःकरण में नैतिकता एवं आध्यात्मिकता की मनोवृत्ति विकसित होती है। इसी मानसिक शक्ति के आधार पर मनुष्य अमृतत्त्व या ब्रह्म का साक्षात्कार करता हुआ सांसारिक भव–चक्र से सदैव के लिये विमुक्त होकर ब्रह्मलीन हो जाता है।

---

1 अथर्ववेद–6/41/1
2. Crow & Crow Mental Hygiene-p-4.

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची

(मूलग्रन्थ)

(1) ऋग्वेद (सायण–भाष्य) – मैक्समूलर सम्पादित, लण्डन
चौखम्बा–1966, वाराणसी।

(2) ऋग्वेद संहिता (सायण–भाष्य) – विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

(3) मूलयजुर्वेद संहिता – संकलयिता महर्षि देवरात, वाराणसी–1973।

(4) शुक्लयजुर्वेद – उवट महीधर भाष्य।

(5) अथर्ववेद – राथ–ह्विटनी सम्पादित, बर्लिन–1856, सातवलेकर, पारडी 1957। सायण भाष्य सहित, मुम्बई (एस0 पी0 पण्डित द्वारा सम्पादित)।

(6) ऐतरेय ब्राह्मण – ए0 हाग सम्पादित, मुम्बई 1863, सत्यव्रत सामश्रमी सम्पादित, कलकत्ता–1895।

(7) शतपथ ब्राह्मण – बेबर–सम्पादित, लाइपजिंग 1924, चौखम्बा, वाराणसी 1965।

(8) गोपथ ब्राह्मण – गास्ट्रा सम्पादित, लीडेन 1919।

(9) आश्वलायन श्रौतसूत्र – मंगलदेव शास्त्री, वाराणसी 1938, विद्याविलास प्रकाशन।

(10) लाट्यायन श्रौतसूत्र – मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, नई दिल्ली।

(11) कात्यायन श्रौतसूत्र – चौखम्बा वाराणसी प्रकाशन–1928, वाराणसी।

(12) शांख्यायन श्रौतसूत्र – मेहरचन्द लक्ष्मीदास प्रकाशन, नई दिल्ली।

(13) बौधायन गृह्यसूत्र – सं0 श्री निवासाचार्य, मैसूर 1904।

(14) पारस्कर गृह्यसूत्र – भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी।

(15) आश्वलायन गृह्यसूत्र — स्ट्रेञ्जलर, लाइपजिंग 1864।

(16) आश्वलायन गृह्यमंत्र व्याख्या — हरिदत्त मिश्र, पाणिनि प्रकाशन नई दिल्ली।

(17) वैखानस गृह्यसूत्र — कैलेण्ड, कलकत्ता — 1926।

(18) शांख्यायन गृह्यसूत्र — ओल्डेनवर्ग, लाइपजिंग–1878।

(19) शांख्यायन श्रौतसूत्र — हिलेब्राण्ट, कलकत्ता–1888।

(20) मनुस्मृति — श्री कुल्लुक भट्ट, मोतीलाल बनारसीदास, मुम्बई।

(21) सुश्रुत संहिता — महर्षिणा सुश्रुतेन कृत्, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी।

(वेद–विषयक व्याख्या ग्रन्थ एवं अन्य विषय–सम्बद्ध ग्रन्थ)

(1) ऐतरेय ब्राह्मण — डा० सुधाकर मालवीय विरचित हिन्दी टीका, तारा प्रकाशन, वाराणसी।

(2) शतपथ ब्राह्मण — पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय विरचित हिन्दी टीका, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली–1968।

(3) गोपथ ब्राह्मण — पं० क्षेमकरदास त्रिवेदी रचित हिन्दी टीका सहित, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि–सभा, नई दिल्ली–1997।

(4) The Religion and Philosophy of the veda and upanishadas - A.B. Keith- Motilal Banarsidas,Hindi Trans.-1966.

(5) Vedic Bibliography - R.N. Dandekar, Vol. I (Karnat Publishing House Bombay, 1946), Vol II (University of Poona, 1961).

(6) A vedic concordance - Mauric Bloomfield, Motilal Banarsidas, Delhi.

(7) अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण, हिन्दी अनुवाद – डा0 सूर्यकान्त (मूल लेखक ब्लूमफिल्ड), चौखम्बा विद्याभवन, काशी–1965।

(8) धर्मशास्त्र का इतिहास प्रथम भाग – डा0 पी0 वी0 काणे, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ 1963।

(9) वैदिक साहित्य एवं संस्कृति – आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, वाराणसी।

(10) वैदिक साहित्य एवं संस्कृति – डा0 कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी–2000 ई0।

(10) वैदिक विज्ञान एवं भारतीय संस्कृति– पं0 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् विक्रमाब्दः–2029।

(12) वैदिक साहित्य का इतिहास – प्रभा कुमारी, न्यू बिल्डिंगस, अमीनाबाद, लखनऊ।

(13) वैदिक कोश – डा0 सूर्यकान्त, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1965 ।

(14) हिन्दू संस्कार – डा0 राजबलि पाण्डेय, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण–1978।

(15) कौमारभृत्य – डा0 देवेन्द्र नाथ मिश्र, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, बंग्लोरोड, नई दिल्ली।

(16) साधक साध्य और साधना – श्री हरिशंकर द्विवेदी 'अज्ञान', शांति प्रकाशन, इलाहाबाद।

(17) भारतीय दर्शन – डा0 नन्द किशोर देवराज, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

(18) वैदिक मनोविज्ञान – डा0 कपिलदेव द्विवेदी, विश्वभारती शोध–संस्थान, ज्ञानपुर, वाराणसी 1990।

(19) शिक्षा मनोविज्ञान – डा0 एस0 एस0 माथुर, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा 1989।

(20) सामान्य मनोविज्ञान के मूलतत्त्व – जे0 एन0 सुमन, साहित्य भवन, आगरा 1988।

(21) मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्दकोश – निर्मला शेरजंग, एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी, रामनगर, नई दिल्ली।

(22) Personality, Inquiry and Application - Mark Sherman, Pergamon Press, New York-1979.

(23) A Psychological Interpretation - Allport, Henary Holt, 1937 New York.

(24) Educational Psychology - C. E. Skinner, Stepils London-1956.

(25) Psychology of Life - H.L. Flied, Scot Forageman & Company- Chicago1948.

(26) Mental Health and Psychoneurosis - J.A. Headfield, George Elen, London –1952.